खण्ड 5

अष्टांगयोग एवं कैवल्यस्वरूप

खण्ड 5 खण्ड परिचय

संस्कृत पाठ्यक्रम का यह पंचम खण्ड है जिसका नाम दर्शनशास्त्र – ब्रह्मसूत्र, योगसूत्र, न्यायसूत्र है। इस खण्ड में कुल ७ इकाईयाँ हैं। इस खण्ड की सभी इकाईयाँ पतञ्जलि विरचित योगसूत्र के समाधि पाद के १७वें सूत्र से पाद के अन्तिम सूत्र तक, साधन पाद के २९–५५ सूत्र तक, विभूति पाद के १–४ सूत्र तक तथा कैवल्य पाद के ३४वें सूत्र तक विस्तृत है। प्रत्येक इकाई में भिन्न–भिन्न संख्या में निबद्ध सूत्रों का विषयगत प्रतिपादन किया गया है। पाठ्यक्रम में १५वीं इकाई से २१वीं इकाई तक निबद्ध है। पाठ्यक्रम के १५वीं इकाई में समाधि का स्वरूप विवेचित किया गया है जिसमें समाधि पाद के सूत्र संख्या १७–२२ के विषयों का प्रतिपादन किया गया है। जहाँ सम्प्रज्ञात समाधि एवं असम्प्रज्ञात समाधि के प्रारम्भिक स्वरूप का विवेचन किया गया है। १६वीं इकाई में ईश्वरप्रणिधान विषय का विवेचन किया गया है जो समाधि पाद के सूत्र संख्या २३–२९ तक में विस्तृत है। जहाँ ईश्वर के स्वरूप का विवेचन तथा समाधिलाभ में ईश्वर के उपयोगिता का वर्णन किया गया है। १७वी इकाई में चित्तविक्षेप एवं चित्त के परिकर्म का प्रतिपादन प्राप्त होता है जो समाधि पाद के सूत्र संख्या ३०–४० में प्रतिपादित है। इस इकाई में समाधि के समय चित्त को विचलित करने वाले विघ्नों का विवेचन किया गया है। १८वीं इकाई में चतुर्विध समापत्तियों का विवेचन किया गया है जो सम्प्रज्ञात समाधि के भेद हैं। १९वीं इकाई में चतुर्विध समापत्तियों से प्राप्त होने लाभ का वर्णन किया गया है। यह इकाई मुख्यतः ऋतम्भरा प्रज्ञा को आश्रित करके लिखी गयी है तथा इस ऋतम्भरा प्रज्ञा से होने वाले लाभ तथा निर्बीज समाधि का विवेचन किया गया है। २०वीं इकाई में योगदर्शन के अत्यन्त प्रसिद्ध विषय अष्टांग योग का निरूपण किया गया है जहाँ साधन पाद के सूत्र संख्या २९–५५ तथा विभूति पाद के १–४ तक के सूत्रों के विषयों का विवेचन किया गया है। २१वीं इकाई में योगसूत्र के परम प्रयोजन कैवल्य का स्वरूप प्रतिपादन किया गया है जो केवल कैवल्य पाद के ३४वें सूत्र को आधृत करके लिखा गया है। इस प्रकार पंचम खण्ड के ७ इकाईयों में योग के प्रायशः सम्पूर्ण विषयों का प्रतिपादन कर दिया गया है।

इकाई 15 अष्टांगयोग एवं कैवल्यस्वरूप (समाधिपाद, सूत्र 17–22)

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

- समाधि के स्वरूप का परिज्ञान कर सकते हैं।
- समाधि के दोनों भेदों का सम्पूर्ण बोध कर सकेंगे।
- समाधि की उत्पत्ति को समझ सकेंगे।
- अन्य शास्त्रों में प्रतिपादित समाधि के स्वरूप का भी बोध कर सकेंगे।
- समाधि का प्रयोजन एवं व्यावहारिक उपादेयता को समझ सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

संसार के सभी जीवित प्राणी किसी न किसी प्रकार के दुःखों से त्रस्त हैं। कोई ऐसा मनुष्य नहीं मिलेगा जिसको किसी न किसी प्रकार का दुःख भूत में नहीं हुआ था और वर्तमान में नहीं है, इसी प्रकार से भविष्य में दुःख नहीं होगा यह भी कोई प्रतिज्ञा नहीं कर सकता है। प्रायशः समस्त दुःख मानसिक ही होते हैं किन्तु फिर भी इसको सरलता की दृष्टि से तीन प्रकार से विभाजित किया गया है आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। आध्यात्मिक दुःख शारीरिक और मानसिक भेद से दो प्रकार का होता है। शारीरिक दुःख वात, पित्त और कफ इन तीनों के विषमता से समुत्पन्न होता है, मानसिक दुःख अप्रिय संयोग और प्रिय–वियोग से होता है।

यक्ष और राक्षस आदि के निमित्त होने वाले दुःख को आधिदैविक दुःख कहते हैं। भूत अर्थात् मनुष्य, पशु आदि में होने वाले दुःख का नाम आधिभौतिक दुःख कहलाता है। इन सभी प्रकार के दुःखों की निवृत्ति चित्त की वृत्तियों के निरोध से सम्भव है। चित्त–अर्थात् मन, बुद्धि और अहंकार। चित्त के भी कुछ व्यापार होते हैं, जैसे इन्द्रियां घटादि विषयों का आलोचन करती हैं, विषयों का आलोचन करने के पश्चात् मन के द्वारा उन विषयों का संकल्प एवं विकल्प होता है, तदनन्तर उन विषयों को बुद्धि के द्वारा निर्णय करके निश्चय किया जाता है। विषय का निश्चय होने के अनन्तर ममेदं इस प्रकार से अभिमान होता है। चित्त के द्वारा जिस विषय का ग्रहण किया जाता है तत्स्वरुप में चित्त की परिणति हो जाती है। विषय स्वरुप में चित्त के परिवर्तन होने पर चित्त की वृत्ति के सर्वदा विद्यमान होने पर दुःख भी हमेशा विद्यमान रहेंगे, अतः दुःखों

की निवृत्ति के लिये चित्त की वृत्तियों का निरोध अपेक्षित होता है। चित्त का निरोध होना ही वस्तुतः समाधि है।

15.2 समाधि का स्वरूप

महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रणीत योगसूत्र के द्वितीय सूत्र में योग का लक्षण बताया गया है। चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। योग शब्द की निष्पत्ति तीन प्रकार से सम्भव है, युजिर्योगे, युज् संयमने और युज् समाधौ। इसलिये सूत्र में प्राप्त योग शब्द का क्या अर्थ है? ऐसी आशंका होने पर महर्षि व्यास के द्वारा योग शब्द का अर्थ समाधि बताया गया है जिससे यह निर्णीत होता है कि योग शब्द का अर्थ समाधि ही है। अतः जो लक्षण योग का बताया गया है वही लक्षण समाधि का भी सम्भव है।

चित्त की पांच वृत्तियां होती है, प्रमाणवृत्ति, विपर्ययवृत्ति, विकल्पवृत्ति निद्रावृत्ति और स्मृतिवृत्ति। इन पांचों वृत्तियों का निरोध होने पर ही समाधि सम्भव है। चित्त की पांच प्रकार की भूमियां भी हैं क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इन चित्त के पांचों अवस्थाओं में से एकाग्र और निरुद्धावस्था में ही समाधि सम्भव है। क्षिप्त अवस्था तब होती है जब रजोगुण का उद्रेक रहता है, इस अवस्था में तत्तद् विषयों के साथ इन्द्रियां साक्षात्कार करती हैं जिससे चित्त अत्यन्त अस्थिर रहता है। अतः समाधि इस अवस्था में भी नहीं हो सकती है।

मूढ अवस्था में तमोगुण का उद्रेक रहता है, इस अवस्था में निद्रा आदि की प्रसक्ति बनी रहती है, जिससे इस अवस्था में भी समाधि सम्भव नहीं है। विक्षिप्त अवस्था में सत्त्वगुण का उद्रेक रहता है। सत्वगुणों की उद्रेकावस्था में ही समाधि की सिद्धि सम्भव है, किन्तु विक्षिप्तावस्था में सत्त्व गुणों के उद्रेक होने पर भी मध्य–मध्य में तमोगुण के प्रवाह हो जाने से यह तमोगुण से विशिष्ट क्षिप्तावस्था है, अतः इस अवस्था में भी समाधि की प्रसक्ति नहीं हो सकती।

चित्त की चतुर्थ अवस्था अर्थात् मात्र सत्त्वगुण की उद्रेकता बनी रहती है, जिससे एकाग्रावस्था में एकाग्रता बनी रहती है। जैसे निर्वात दीप के समान अचल स्थिति बनी रहती है ठीक उसी प्रकार चित्त की स्थिति भी एक रुप में बनी रहती है। जिस स्वरुप में चित्त की वृत्ति बनी रहती है तदतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के विषयों के साथ होने से चित्त के व्यापार का निरोध हो जाता है।

चित्त के पञ्चम अवस्था निरूद्ध में सभी प्रकार के वृत्तियों का निरोध हो जाता है। एकाग्रावस्था में सात्त्विक गुण की वृत्ति का प्रवाह चलायमान रहा करता है किन्तु निरुद्धावस्था में सात्त्विकगुण की वृति का भी प्रवाह समाप्त हो जाता है और संस्कार मात्र शेष रहता है। एकाग्रावस्था और निरुद्धावस्था ही योग का लक्ष्य है, इन्हीं दोनों अवस्थाओं में क्रमशः सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि की उपपत्ति होती है। क्लेश, कर्म और विपाक आदि की निवृति सम्प्रज्ञात समाधि में ही हो जाती है।

महर्षि पतञ्जलि के द्वारा योग के सहायक आठ अंगों का निरूपण किया गया है। किसी भी कार्य को सम्पन्न करने वाले तत्त्वों को अंग के नाम से जाना जाता है। इन्हीं को उपकरण अथवा करण भी कहते हैं। योग के आठ अंग का तात्पर्य है कि योग के आठ सहायक तत्त्व हैं जो कि योग से भिन्न प्रतीत होते हैं। वस्तुतः सांख्ययोगदर्शन में अंग–अंगी अथवा अवयव–अवयवी में भेद स्वीकार न करते हुये अभेद स्वीकार किया है, अन्यथा सत्कार्यवाद के उच्छेद होने की आपत्ति प्रसक्त होने लगेगी। अंग–अंगी में अभेद स्वीकार करने से यह प्राप्त होता है कि योग इन आठ अंगों से अतिरिक्त नहीं

है, अपितु इन आठों अंगों के समूह का ही नाम योग शब्द से कहा जाता है। अंग—अंगी में भेदवाचक षष्ठीविभक्ति का प्रयोग भ्रमात्मक है।

ये आठ अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि है। इन आठों में से पूर्ववर्ती पांच को बहिरङ्ग और उत्तरवर्ती तीन को अन्तरङ्ग के नाम से जानते हैं। बहिरङ्ग अन्तरङ्ग को सिद्ध करने में सहायक होते हैं, इन बहिरङ्गों की सिद्धि के अनन्तर ही अन्तरङ्गों की सिद्धि सम्भव है। इन अन्तरङ्गों में से धारणा और ध्यान ये दोनों ही समाधि के सहायक होते हैं, इन दोनों के सिद्धि के अनन्तर ही समाधि का लाभ सम्भव है। वस्तुतः धारणा का उत्कृष्ट स्वरूप ही ध्यान है और ध्यान का उत्कृष्ट स्वरूप को समाधि के नाम से जाना जाता है। नाभिचक्र, हृदयप्रदेश, मूर्धा, नासिकाग्र, जिह्वाग्र आदि बाह्य प्रदेशों में चित्त के व्यापार को रोकना धारणा कहते हैं। इन स्थानों पर चित्त के नियन्त्रण से अन्य वृत्तियों का निरोध हो जाता है और इन्हीं स्थानों पर वृत्ति एकाग्र हो जाती है। इन्हीं देशों में वृत्तियों की एकागृता अर्थात सदृश प्रवाह जो कि अन्य वृत्तियों के साथ सम्पर्क स्थापित नहीं करती हो उसको ध्यान कहा जाता है। वस्तुतः ध्यानावस्था में ध्याता, ध्यान और ध्येय ये तीनों प्रतिभासित होते हैं। जब इन तीनों का प्रतिभान नहीं हो सके उस अवस्था को समाधि के नाम से जाना जाता है। ध्यान की जब सिद्धि होती है तब यही समाधि के रूप में परिणत हो जाती है। ध्यान की उत्कृष्ट अवस्था को ही समाधि कहा जाता है।

योग के चरम अङ्ग एवं अन्य सभी अङ्गी के साध्य समाधि का स्वरुप सूत्रकार कहते हैं कि वह ध्यान ही ध्येयमात्र के स्वरुप में परिणत होकर साक्षि द्रष्टा में प्रतिभासित होता है, इस अवस्था में अहं विषयक वृत्ति भी नहीं रहती है, ऐसी अवस्था में वृत्यन्तररहित होने से स्वरूपशून्य हो जाती है। ध्येय स्वरुप आकार मात्र प्रतिभासित होता है।

जब चित्त की वृत्ति ध्येयमात्र स्वरुप में परिणत हो जाये तब इस अवस्था को समाधि कहते हैं। ध्यातृ, ध्यान एवं ध्येय यह त्रितय विषयक वृत्ति जब भी प्रतिभासित होती है उस अवस्था को ही ध्यान कहते हैं और जब वृत्ति ध्यातृ, ध्यान एवं ध्येय इन त्रितय से रहित हो तब उसे समाधि कहते हैं। वस्तुतः ध्यान ही समाधि में परिणत होता है। यह समाधि सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात के भेद से दो प्रकार का है।

15.2.1 सम्प्रज्ञात समाधि

जब तमोगुण अनुत्कट हो जाता है और सत्वगुण चित्त में आविर्भूत होता है उस समय रजोगुण की सहायता से धर्म, ज्ञान, वैराग्य, और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है एवं मोहात्मक तमोगुण क्षीण हो जाता है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि की सम्पन्नता होने से मधू भूमि वाले प्रज्ञा प्रज्ञा ज्योतिष से युक्त मध्यम योगी के होते हैं।

चित्त की वृत्तियां एकाग्रावस्था में सात्विकवृत्ति के प्रवाहमान होने से वृत्यन्तर का व्यवधान हुये बिना दीपक के सदृश अचल स्थिति में रहती हैं। इस अवस्था में रज एवं तम की वृत्तियां अभिभूत होकर सात्विक गुणों की वृत्ति सर्वदा प्रवाहित होती हैं। यह सम्प्रज्ञात समाधि वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता के भेद से चार प्रकार का है।[1] वस्तुतः वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता इन चारों प्रकार के अंगों का अंगी अर्थात प्रधान असम्प्रज्ञात नामक समाधि है। वितर्क का अर्थ विशेष अर्थात् स्थूल पदार्थ आधार हो जिसमें इन स्थूल पदार्थों के साथ सहकृत निरोध ही सवितर्क समाधि है। स्थूल

[1] वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुरामात्सम्प्रज्ञातः ।१.१७

पदार्थों का अवलम्बन करके चित्त के एकाग्रता का सम्पादन करने वाले और अन्य वृत्तियों का निरोध होना ही सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि है।

वितर्क– स्थूल पदार्थ का आलम्बन करके चित्त के एकाग्रता का सम्पादन करने वाली वृत्तिमान् चित्त की अवस्था ही वितर्क है। जैसे कोई धनुष को धारण करने वाला मनुष्य सर्वप्रथम स्थूल पदार्थ को लक्ष्य स्थापित करता है और उसका वेधन करता है तदनन्तर सूक्ष्म पदार्थ के ऊपर लक्ष्य स्थापिता करके उसका वेधन क्रिया सम्पन्न करता है। इसी प्रकार से जो प्राथमिक योगी होते हैं वें स्व प्रिय स्थूल भूत पाञ्चभौतिक वस्तु (परमेश्वर अर्चना आदि) का साक्षात्कार करके एकाग्रता स्थापित करता है।

सविचार सम्प्रज्ञात समाधि में सूक्ष्मवस्तुओं का अवलम्बन करके चित्त की वृत्तियों के एकाग्रता का सम्पादन किया जाता है। वस्तुओं को अवलम्बन करने के अनन्तर सूक्ष्म वस्तुओं को आधार बनाकर वृत्तियों का विरोध सविचार सम्प्रज्ञात समाधि है। इसमें सूक्ष्म तत्त्व प्रकृति, महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्र एवं इन्द्रिय आदि को लक्ष्य बनाकर चित्त की एकाग्रता सम्पादित किया जाता है।

सम्प्रज्ञात समाधि के तृतीय भेद आनन्दसमाधि में सूक्ष्म पदार्थों का परित्याग करके इन्द्रियों के कारणभूत सात्विक अहंकार सत्त्वप्रधान वाले आनन्दात्मक–अहंकार को लक्ष्य बनाकर चित्त को अन्य सूक्ष्म पदार्थों से हटाकर एकाग्र किया जाता है। अहंकार से अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के आकार में परिणत वृत्तियों का निरोध करके केवल अहंकार के आकार में वृत्ति को आकारित किया जाता है।

सम्प्रज्ञात समाधि के चतुर्थ भेद अस्मिता समाधि में चित्त वृत्तियों को आनन्द से हटाकर अहंकार के कारण बुद्धि के आकार में आकारित किया जाता है। चित्त वृत्तियां महत् से अन्य तत्त्वों के साथ निरुद्ध हो जाती हैं, अतः महत् के साथ द्रष्टा का संयोग होने से अभेद अर्थात् एक स्वरुप होना अस्मिता है। महत् के आकार में आकारित होने से यह समाधि भी अस्मिता है। इस प्रकार से चित्त की वृत्तियां स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम विषयों को लक्ष्य बनाकर अन्य विषयों के वृत्तियों का निरोध ही सम्प्रज्ञात समाधि है। सवितर्क समाधि के सिद्धि के अनन्तर ही विचारादि समाधि की सिद्धि सम्भव है। सवितर्क समाधि की सिद्धि के पश्चात् आनन्दादि की सिद्धि होती है और सानन्द के सिद्ध होने पर ही अस्मिता की उत्पत्ति होती है। वितर्क, विचार और आनन्द से विशिष्ट होकर ही अस्मिता परवैराग्य के द्वारा असम्प्रज्ञात की सिद्धि होती है।

15.2.2 असम्प्रज्ञात समाधि

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्र चित्त धर्ममेध पर्यन्त परज्ञान को प्राप्त करता है। चितशक्ति अपरिणामी होने से संक्रमण नहीं कर सकती,यह शुद्ध अनन्त सत्त्वगुणात्मिका होने से विवेकख्याति कही जाती है। वस्तुतः सुख और मोह ये दोनों ही विवेकी के दुःख के कारण बनते है, इसलिये जैसे दुःख हेय होता है वैसे ही सुख भी हेय ही है। विवेकख्याति भी सत्वात्मिका बुद्धि होने से यह भी परित्यक्त है, अन्य वृत्यन्तरों की कोई गति ही नहीं है। परवैराग्य के द्वारा विवेकख्याति भी निरुद्ध हो जाती है। निरुद्ध शेषवृत्ति वाले चित्त में संस्कारमात्र शेष रह जाता है।[2] क्लेशसहित कर्माशय जाति आयु और भोग के बीज भी निर्गत होने से यह निर्बीज समाधि कहलाती है।

सभी प्रकार के वृत्तियों के निरोध का कारण गुणवृतिष्णाख्य परवैराग्य का अभ्यासपूर्वक

[2] तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः । ३.३

समाधि असम्प्रज्ञात समाधि होती है। इस समाधि में सभी प्रकार के वृत्तियों का विरोध हो जाता है, केवल संस्कार मात्र ही अवशिष्ट होता है, वृत्तियों के समाप्त हो जाने पर भी प्रारब्ध संस्कार का लेश विद्यमान रहता है। यह समाधि निरुद्धवस्था में ही सम्भव है। असम्प्रज्ञात समाधि के प्रति सम्प्रज्ञात की कारणता साक्षात् नहीं होती है क्योंकि सम्प्रज्ञात में वृत्तियों का सर्वथा लय नहीं रहता और असम्प्रज्ञात में वृत्तियों का सर्वथा लय हो जाता है। इसलिये वृत्तियों के निरोध के लिये परवैराग्य की अपेक्षा होती है। परवैराग्य से वृत्तियां जल जाती हैं। इसलिये यहां किसी प्रकार के स्थूल, सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतम विषयों का सम्प्रज्ञात नहीं होने से यह असम्प्रज्ञात समाधि है। सभी प्रकार के बीजों के समाप्त होने के कारण यह निर्बीज समाधि भी कहलाती है।[3] योगसूत्र में प्रणीत समाधि के लक्षण में मात्र पद का अर्थ स्वरूपशून्य से अभिप्रेत है। स्वरूपपद अन्य पदार्थ का भी उपलक्षणयोगसूत्र में प्रणीत समाधि के लक्षण में मात्र पद के निवेश करने से मात्र पद का अर्थ स्वरू‹ शून्य से अभिप्रेत है। स्वरूपपद अन्य पदार्थ का भी उपलक्षण है। इव शब्द के द्वारा अग्रहणमात्र अर्थात शून्यसाधर्म्य विवक्षित है। ध्यान और समाधि में एक और सूक्ष्म अन्तर यह होता है कि अत्यन्त अभ्यर्हितादि विषय और इन्द्रिय के सन्निकर्ष होने से ध्यानभङ्ग होने पर भी समाधि भङ्ग नहीं होती। यह समाधि वृत्त्यन्तर के निरोध द्वारा साक्षात्कार का कारण होता है। अतिस्वच्छ चित्तवृत्ति के प्रवाह रूप ध्यान ही अर्थ मात्र स्वरूप से निर्भासित होकर समाधि होता है। इव शब्द के द्वारा ध्यान की सत्ता द्योतित होती है।

असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार से है, उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय। भवप्रत्यय शरीररहित देवताओं और प्रकृतिलय वालों को होता है।[4] भव अर्थात् संसार, इसके प्रत्यय विद्यमान रहता है। इस अवस्था में सांसारिक विषयों का परिज्ञान बना रहता है। चित्त में संस्कार मात्र के होने से कैवल्यपद के समान अनुभव करते हैं। संस्कार के विद्यमान होने से तत्तद् फलों का उपयोग करते हैं। चित्त के प्रकृति में लीन होने पर कैवल्यपद के समान अनुभव करते हैं। चित्त के अधिकारवश पुनर्जन्म के प्राप्तिपर्यन्त प्रकृतिलय विद्यमान रहता है।

वस्तुतः विदेहयोगी प्रकृति और आत्म—परमात्म पर्यन्त नहीं जानते और ध्यान—समय में उनके चित्त का सात्विक परिणाम होकर एकाग्र होने से सुख प्राप्ति होती है। सुख के अवस्था में योगी अपने से शून्य हो जाता है, इसलिये इसका नाम विदेहलय है। इस अवस्था में ही वह जन्म—मरण रहित हो जाता है। वस्तुतः इस अवस्था में परमात्मतत्त्व का ज्ञान नहीं होने से यह योगाभास है। आत्मज्ञान होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

उपाय अर्थात् श्रद्धा आदि प्रत्यय कारण है जिसमें ऐसे समाधी को उपाय समाधि कहते हैं। यह उपायप्रत्यय मोक्ष की इच्छा रखने वाले योगियों को होता है। उपायप्रत्यय श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक ही सम्भव है।[5] श्रद्धा अर्थात् चित्त को प्रसन्न करने वाली है। यह श्रद्धा ही माता के समान कल्याण करने वाली और योगी की रक्षा करती है। विवेकार्थी श्रद्धालु को उत्साह उत्पन्न होता है। उसको स्मृति भी उत्पन्न होती है और स्मृति के रहने से चित्त दुःखरहित होकर एकाग्रता युक्त ध्यान करता है। उस समाधिस्थ चित्त में विवेकबुद्धि समुत्पन्न होता है। विवेकबुद्धि के उत्पन्न होने से

---

[3] विरामप्रत्ययाऽभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः । १.१८

[4] भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ।१.१९

[5] श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकम् इतरेषाम् ।१,२०

वह यथार्थरुप से वस्तु को जानता है। विवेकज्ञान के अभ्यास से एवं पौनः पुन्य अनुभव करने से वैराग्य–असम्प्रज्ञात समाधि समुत्पन्न होती है।

नवीन योगी को मृदु, मध्य और अधिमात्रोपाय वाली समाधि होती है।[6] मन्द उपायों वाली, मध्य उपायों वाली तथा तीव्र उपायों वाली इसके तीन भेद है। तीव्र उपायों अर्थात् वेग वाले को समाधि शीघ्र होती है।[7] समाधि की झटिति प्राप्ति संवेग से होती है। संवेग अर्थात् दृढतर संस्कार। मन्द, मध्य और तीव्र यह तीनों भी उपाय के भेद हैं। इनमें से प्रत्येक मन्दसंवेग, मध्यसंवेग और तीव्रसंवेग के भेद से तीन–तीन भेद वाले होते हैं। तीव्र संवेग वाले को समाधि बहुत शीघ्र हो जाती है। मन्दतीव्र और मध्यतीव्र इन दोनों से विशेष होने के कारण अधिमात्रतीव्र के द्वारा अत्यधिक सफलता की प्राप्ति होती है। यह क्रमशः मृदु तीव्र संवेग होने पर समाधि शीघ्र प्राप्त होती है, मध्यतीव्रसंवेग वाले को और शीर्घ समाधि की सिद्धि होती है और अधिमात्रतीव्रसंवेग वाले को अर्थात् तीव्रोपाय वाले को समाधि अतीव शीघ्र प्राप्त होती है। ईश्वर के प्रणिधान अर्थात् नाम जप आदि के द्वारा भी समाधि की सिद्धि होती है।

समाधि के विघ्न अन्तराय

समाधि करने वाले साधक के मार्ग में विभिन्न प्रकार की कठिनाईयों के साथ संघर्ष की स्थिति बनती है जिनसे साधक पथभ्रष्ट होकर समाधि की सिद्धि नहीं कर पाता। इन्हीं कठिनाइयों का नाम समाधि के विघ्न या अन्तराय हैं। साक्षात् चित्त के विक्षेप को ही अन्तराय के नाम से जाना जाता है। विषय आदि परम्परया चित्त के विक्षेपक होने से अन्तराय के लक्षण की विषय में अतिव्याप्ति नहीं होती है। यद्यपि चित्तविक्षेपक होने में साक्षात् रजोगुण की कारणता होने पर भी चित्तवृत्ति होना विशेषण कर दिया जाता है इसलिये रजोगुण में अतिव्याप्ति का परिहार होता है। वस्तुतः व्याधि आदि चित्त के धर्म विशेष है। योग के प्रतिबन्धक चित्त के मल दुःखादि का जनक होता है।

इन अन्तरायों का नाम व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व है।[8] इन सबके अतिरिक्त दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास तथा प्रश्वास ये पांचों उपर्युक्त अन्तरायों के सहयोगी हैं।

व्याधि

वात पित्त और कफ के विषमता होने पर शरीर में उत्पन्न होने वाले दुःख का नाम ही व्याधि है। खान–पान और इन्द्रियों की विषमता से उत्पन्न होने कष्ट की संज्ञा व्याधि है। सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों में न्यूनाधिक्य होने पर शरीर व्याधिग्रस्त होता है, जिससे चित्त की एकाग्रता नहीं हो सकती है।

स्त्यान

चित्त जब तमोगुण की प्रधानता से युक्त हो जाये तब चित्त में किसी भी क्रिया को सम्पादित करने की इच्छा नहीं होती है। जिससे अकर्मण्यता की स्थिति होती है और

---

[6] मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ।१.२२

[7] तीव्रसंवेगानामसन्नः । १.२१

[8] व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि

चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।1.30

मनुष्य किसी भी क्रिया को करने की इच्छा से रहित हो जाता है। अतः इसके कारण समाधि को नहीं किया जा सकता है।

संशय

दो वस्तुओं को बोध कराने वाला जो ज्ञान होता है उसको संशय कहा जाता है। किसी एक धर्मी में विरूद्ध अनेक प्रकार के परस्पर विरोधी ज्ञान सम्वलन होने लगे उसको संशय के नाम से जाना जाता है। जैसे रस्सी है अथवा सर्प है इस प्रकार के परस्पर विरूद्ध ज्ञान समुत्पन्न हो जाना। यह संशय समाधि का प्रतिबन्धक होता है। साधक के मन में समाधि की सिद्धि होगी अथवा नहीं इस प्रकार से ज्ञान के उद्रेक होने के लिये समाधि की सिद्धि नहीं हो पाती है। संशय की स्थिति होने पर समाधि के पूर्वरूप ध्यान की भी अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती है।

प्रमाद

समाधि के साधनों का पालन नहीं करना अथवा उनके लिये यत्न स्थापित नहीं करना प्रमाद कहलाता है। वात, पित्त और कफ के कारण शरीर भारी होता है और तमोगुण की अधिकता के कारण चित्त के भी गुरु हो जाने से ध्यान में प्रवेश नहीं होना ही प्रमाद है।

आलस्य

वात, पित्त और कफ से शारीरिक आलस्य होता है और तमोगुण का उद्रेक होने से मानसिक अर्थात चित्त का आलस्य होता है। आलस्य की स्थिति में भी समाधि की सिद्धि सम्भव नहीं है। समाधि के लिये शरीर का स्वस्थ रहना अत्यन्त अपेक्षित है अन्यथा समाधि की प्राप्ति सम्भव नहीं है क्योंकि शरीर के स्वस्थ नहीं होने पर आलस्य दोष की प्रसक्ति होने लगती है। स्वस्थ शरीर का लक्षण आयुर्वेद शास्त्र के ग्रन्थ चरक संहिता में बताया गया है कि –

समदोषः समाग्निश्च समधातुर्मलक्रियाः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते।।

शरीर की संरचना वात, पित्त और कफ इन तीनों तत्त्वों से मिलकर बनी हुई है। इन्हीं को दोष शब्द से कहा गया है। इन तीनों की स्थितियां समान रूप से हो और शारीरिक अग्नि प्रदीप्त हो, धातु आदि भी समान रूप से समस्त क्रियाओं का सम्पादन कर रही हो जिससे प्रसन्न आत्मा, इन्द्रिय और मन वाले को स्वस्थ कहा गया है। वस्तुतः आलस्य शारीरिक धर्म के साथ–साथ मानसिक धर्म भी है। जब आत्मा और मन प्रसन्न रहेंगे तब शारीरिक और मानसिक किसी भी प्रकार से आलस्य की प्रसक्ति नहीं हो सकती।

अविरति

चित्त का विषय के साथ संयोग होने से विषयतृष्णा में आसक्ति अविरति है। चित्त का विषयों से उपरत होने के अनन्तर पुरूष के स्वरूप में परिणत होने के पश्चात् भी पुनः विषय की आसक्ति होना अविरति कहलाता है।

भ्रान्तिदर्शन

अनित्य में नित्यता, अपवित्र में पवित्रता, दुःख में सुखत्व और अनात्मा में आत्मत्व का

जो बोध होता है वह अविद्या है और अविद्या को ही भ्रान्तिदर्शन के नाम से जाना जाता है। ईश्वर तथा गुरु के प्रति भक्ति और श्रद्धा के साथ योगशास्त्र के अनुसार अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति से भ्रान्तिदर्शन समाप्त हो जाता है।

अलब्धभूमिकत्व

समाधि के उपयुक्त होने वाले चित्त की भूमि अर्थात अवस्था की प्राप्ति नहीं होना ही अलब्धभूमिकत्व कहलाता है। मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका, तथा संस्कारशेषा रूप समाधि भूमि का प्राप्त नहीं होना अलब्धभूमिकत्व है योगाभ्यास करने पर भी यदि साधक को समाधि की प्रथम मधुमती भूमि की प्राप्ति नहीं हो पाती तब उसके चित्त में उत्साह समाप्त हो जाता है जिससे वह योगाभ्यास समाप्त कर देता है।

अनवस्थितत्व

चित्त के भूमि की प्राप्ति होने पर भी चित्त का स्थिर नहीं होना अर्थात चञ्चल होना अनवस्थितत्व कहलाता है। इस दशा में भी समाधि की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि समाधि की प्राप्ति चित्त के स्थिर दशा में ही होती है।

दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास ये पांचों विहन विक्षेपों के साथ–साथ होते हैं।[9] जिनके द्वारा चित्त उद्विग्न होकर उसकी निवृत्ति की चेष्टा करते हैं वह दुःख होता है। यह दुःख आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से तीन प्रकार का होता है। आध्यात्मिक दुःख शारीरिक और मानसिक भेद से दो प्रकार का होता है। शारीरिक दुःख वात, पित्त और कफ इन तीनों के विषमता से समुत्पन्न होता है, मानसिक दुःख अप्रिय संयोग और प्रियवियोग से उत्पन्न होता है।

दुःख

दुःख आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक के भेद से तीन प्रकार का है। आध्यात्मिक दुःख शारीरिक और मानसिक भेद में दो प्रकार का होता है। शारीरिक दुःख वात, पित्त और कफ इन तीनों के विषमता से समुत्पन्न होता है, मानसिक दुःख अप्रिय संयोग और प्रिय–वियोग से होता है। यक्ष आदि के निमित्त होने वाले दुःख को आधिदैविक दुःख कहते हैं। मनुष्य, पशु आदि में होने वाले दुःख का नाम आधिभौतिक दुःख कहलाता है।

इन तीनों प्रकार के दुःख की स्थिति में चित्त के वृत्ति का निरोध सम्भव नहीं होने से समाधि की स्थिति उपपन्न नहीं हो सकती है (इसलिये इन तीनों प्रकार के दुःख की स्थिति में समाधि लाभ प्राप्त कर पाना साधक के लिये सम्भव नहीं है) इसलिये समाधि लाभ के लिए दुःखों की समाप्ति अनिवार्य है। वस्तुतरू दुःख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति व्यक्त, अव्यक्त और पुरूष के ज्ञान से ही सम्भव है। तथापि समाधि की प्रक्रिया में दुःख की उत्पत्ति का निषेध है न कि ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रूप से दुःख के उत्पत्ति का निषेध अभिप्रेत है। अन्यथा अन्योन्याश्रय दोष की प्रसक्ति होने लगेगी।

---

[9] दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासविक्षेपसहभुवः ।1.31

दौर्मनस्य

अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति नहीं होने से चित्त में खिन्नता का सञ्चार होना ही दौर्मनस्य है। किसी भी क्रिया के प्रति खिन्नता (एक प्रकार से मानसिक अरूचि) होने से उस क्रिया के प्रति इच्छायें समाप्त होने लगती है, यदि साधक को यौगिक क्रियाओं के प्रति खिन्नता होने लगेगा तब निश्चित ही इसका परिणाम समाधि के असफलता के रूप में परिणत होगा। दौर्मनस्यता एक प्रकार से मानसिक अवस्था के सदृश है जिसके कारण किसी भी क्रिया को सफल नहीं किया जा सकता है। यदि समाधि की प्रक्रिया में दौर्मनस्य भाव समुत्पन्न हो जाता है तब समाधि प्रतिबन्धित हो जाता है।

अङ्गमेजयत्व

अङ्गों में कम्पन होना ही अङ्गमेजयत्व कहलाता है। अङ्गों के हिलते डुलते रहने से भी समाधि की प्रप्ति नहीं हो सकती है। समाधि के समय चित्त की एकाग्रता सबसे महत्त्वपूर्ण क्रिया में से एक है। चित्त की एकाग्रता शारीरिक एकाग्रता से नियन्त्रित होती है और शारीरिक कम्पन होने से चित्त की एकाग्रता समाप्त हो जाती है जिससे सामाधि की सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि शारीरिक अंगों में क्रियायें समुत्पन्न होने लगेगी तब समाधि की स्थिति नहीं प्राप्त की जा सकती है इसलिये अङ्गमेजयत्व भी समाधि के विघ्नों में से एक है।

श्वास और प्रश्वास

बाह्य वायु को शरीर में स्थापित करना श्वास कहलाता है और उदरस्थ वायु को बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है।

यह सभी विक्षेपों के साथ होने वाले विक्षिप्त चित्त वालों को होते हैं। इन चित्त के विक्षेपों का निराकरण अभ्यास और वैराग्य के द्वारा होता है। महर्षि पतञ्जलि ने वृत्तियों के निरोध के लिये अभ्यास–वैराग्य रूपी साधन के विकल्प में वर्णित ईश्वर प्रणिधान का फल बताते हैं कि ईश्वर प्रणिधान से चेतन का साक्षात्कार होता है और सभी प्रकार के नौ अन्तरायों का नाश भी हो जाता हैं।

इन चित्त के अन्तराय विक्षेपों का प्रतिषेध एक तत्त्व ईश्वर विषयक अभ्यास अर्थात प्रणिधान के द्वारा सम्भव है। चित्त जब एकाग्र होगा तब चिरकाल तक वहां संयुक्त रह सकता है।

समाधि की प्राप्ति ईश्वरप्रणिधान के द्वारा भी सम्भव है। प्रणिधान अर्थात भक्ति। भक्ति के द्वारा प्रसन्न होकर परमेश्वर उसको अनुगृहीत करते है जिससे झटिति समाधि अथवा समाधि के लाभ की प्राप्ति साधक को होती है। परमेश्वर विषयक अतिशय स्नेह को ही भक्ति कहा जाता है। परमेश्वर विषयक जो माहात्म्यज्ञान होता है (अर्थात वह परमेश्वर सबसे श्रेष्ठ है, उससे अधिक गुण ऐश्वर्यादि किसी के भी नहीं हो सकते हैं) जिसके द्वारा स्नेह और भक्ति अति दृढ होता है। यह भक्ति श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन के भेद से नौ प्रकार से सम्भव है। इस प्रकार से ईश्वर की भक्ति के द्वारा विक्षेप का परिहार एवं समाधि का लाभ अथवा समाधि के फल की प्राप्ति होती है। जिस क्षण से भक्ति का आरम्भ होता है उसी क्षण से चित्त की वृत्तियों का एवं उनके मलों का क्रमशः लय हो जाता है, जैसे जैसे भक्तिभूमि का विस्तार होता जाता है वैसे वैसे चित्त निर्मल होता जाता है जिससे सम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है। असम्प्रज्ञात अवस्था में स्वच्छ चेतन पुरूष प्रेक्षक

के समान अवस्थित होकर प्रकृति को देखता है। बुद्धि फलरहित होकर स्व पारमार्थिक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है तब बुद्धि और पुरूष का संयोग भी विलुप्त हो जाता है, जिससे बुद्धि भी विलय के अभिमुख होकर निराधार मूर्छित होकर विलय के उन्मुखता को प्राप्त करती है। पुरूष "अहं मुक्तः बुद्धः शुद्धः सच्चिदानन्दरूपमिति" अपने वास्तविक स्वरूप मुक्त, बुद्ध, शुद्ध और सत्, चित्, आनन्दस्वरूप का बोध करके प्रसन्न होता है। परवैराग्य के सर्वांगभूत साधन आनुषान्गिकतया सुदृढ होते हैं। जब भगवद्भक्ति योग कुछ न्यून होता है तब निरोध अवस्था में स्थित चित्त दग्धबीज के जैसे निरर्थक होता है। जब भक्तियोग सम्पूर्ण होता है तब झटिति बुद्धि पुरूष गत संयोग का नाश होता है, उसके अनन्तर स्वतन्त्र पुरूष परमात्मा के अधीन होकर परम मुक्ति को प्राप्त करता है। जिस भगवत् स्वरूप का ध्यान करता है उस दिव्य स्वरूप सहजानन्द परमात्मा की प्राप्ति और भगवत् धाम की प्राप्ति होती है।

15.3 सारांश

भारतीय ज्ञानपरम्परा में अनेक ऐसे उपायों का वर्णन किया गया है जिनके द्वारा मनुष्यमात्र अपने वर्तमान स्थिति से उपर उठकर अपने दुः खों को निवृत्त कर सकता है। इन उपायों में से एक महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योगसूत्र है। इस योगसूत्र में शारीरिक एवं मानसिक स्थिति को सुदृढ एवं निपुण करने के अनेकों उपायों को बताया गया है। शारीरिक निपुणता होने के अनन्तर मानसिक स्थिति को सुधारने के लिये समाधि का प्रतिपादन किया गया है।

समाधि को सिद्ध करने वाला साधक रस, गंध, स्पर्श, शब्द, अंधकार, प्रकाश, जन्म, मरण, आदि विषयों से परे हो जाता है। साधक गर्मी शीतोष्ण आदि द्वन्द्व की अनुभूति से परे हो जाता है। वह साधक जन्म–मरण से मुक्त होकर मृत्यु को जीतकर के अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। साधक की कुंडलिनी नाभि–चक्र से जाग्रत होके सुषुम्ना के रास्ते आज्ञाचक्र तक पहुँचती है जिससे समस्त चक्र जाग्रत हो जाते हैं। आनन्दमय कोश के अन्दर प्रवेश कर जाने को भी समाधि की अवस्था कहते हैं। योग के निरुपण के समय में योग का अर्थ समाधि बताया गया है जिससे यह सिद्ध होता है कि समाधि योग का पर्यायवाची है। योग के आठों अंगों में से सबसे अन्त में समाधि का निरुपण किया गया है क्योंकि समाधि के सिद्ध होने से पहले क्रमशः यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान इनकी सिद्धि अपेक्षित होती है। ध्यान का ही चरम और परिनिष्ठित स्वरुप समाधि का है। समाधि का फल ही योग का भी उद्देश्य है।

15.4 शब्दावली

- योग – प्राचीन साधना पद्धति
- अनुशासन – नियमयुक्त आचरण
- चित्त – मन, बुद्धि और अहंकार
- वृत्ति – चित्त के व्यापार
- विवेक ख्याति – प्रकृति पुरुष का विविच्य ज्ञान
- चित्त – बुद्धि, अहंकार एवं मन का समाहार रूप
- चित्तवृत्ति – चित्त का व्यापार (चित्त द्वारा गृहीत किये गये विषयों का

ज्ञान

- दर्शन – त्रिविध दुःखों के अत्यन्त नाश हेतु पथ प्रदर्शित करने वाला ज्ञान
- दुःख – इच्छा के विपरीत विषय का अनुभव
- दुःखनिवृत्ति – दुःख के हेतुओं का नाश
- पुरुषार्थ – धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष
- मोक्ष – मृत्युलोक के आवागमन से मुक्ति, परमात्मा का सान्निध्य, परमपद की प्राप्ति, परमानन्द का अनुभव

15.5 बोध / अभ्यास प्रश्न

- सम्प्रज्ञात समाधि का संक्षिप्त वर्णन करें।
- असम्प्रज्ञात समाधि का संक्षिप्त वर्णन करें।
- समाधि के फलों का वर्णन करें।
- ध्यान और समाधि का विवेचन करने के पश्चात उनके भेद की स्थापना करें।
- समाधि की वर्तमान प्रासङ्गिकता को स्पष्ट करें।

15.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

पातंजल योगसूत्र, व्याख्याकार, श्रीनन्दलाल दशोरा, हरिद्वार रणधीर प्रकाशन १९९७ ।

योगदर्शन, प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या (व्याख्याकार, स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी, मुम्बई, श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट।

योगदर्शन, व्याख्याकार, पं. राजाराम प्रोफेसर लाहौर साहित्य प्रचारक मण्डल, १९२२।

पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्याख्याकार डॉ सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।

पातञ्जल योगदर्शनम् व्याख्याकार श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी विज्ञानाश्रम अजमेर, दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस १९३२ ।

योगतत्त्वांक, कल्याण विशेषांक, गीताप्रेस गोरखपुर, वर्ष १९९९ ।

पातञ्जल योगसूत्र (बंगाली बाबा व्याख्या), हिन्दी अनुवादक, कुमारी वृजरानी देवी, पूना एन. आर. भार्गव, १९४८ ।

योगदर्शन समीक्षा लेखक पं श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, वाराणसी, कृष्णदास अकादमी, १९९७

भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व लेखक – एम.हिरियन्ना, अनु प्रकाश नारायण शर्मा, सेन्ट्रल बुक डिपो, १९५४

भारतीय दर्शन की रुपरेखा, लेखक प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, १९७४

भारतीय दर्शन, लेखक आचार्य बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, चौखम्भा ओरियन्टालिया १९७६।

भारतीय दर्शन, लेखक – वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद लोकभारती प्रकाशन २००६।

भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, लेखक – चन्द्रधर शर्मा दिल्ली मोतीलाल बनारसीदास, २०१०।

वेदान्तसार, (बदरीनाथ शुक्ल विरचित हिन्दी व्याख्या एवं रामतीर्थयति विरचित विद्वन्मनोरञ्जनी टीका सहित) सदानन्द. सम्प. बदरीनाथ शुक्ल. वाराणसी मोतीलाल बनारसीदास, १६७६.

सर्वसिद्धान्तसंग्रह, शकराचार्य. सम्प. सूर्यनारायण शुक्ल. वाराणसी काशी विश्वनाथ प्रेस,

सर्वदर्शनसंग्रह, (अभ्यकरवासुदेव शास्त्रि द्वारा दर्शनाकुर व्याख्या सहित) सम्प. वासुदेव शास्त्री अभ्यकर. प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिर, (निर्णयसागर) १६२४.

सांख्यतत्त्वकौमुदी, (गजाननशास्त्री मुसलगांवकर विरचित हिन्दी व्याख्या सहित) वाचस्पति मिश्र. वाराणसी चौखम्भा संस्कृत संस्थान, १६६२.

इकाई 16 ईश्वर प्रणिधान (समाधिपाद, सूत्र 23–29)

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

- जीव/चेतन समाधि सिद्धि को कैसे प्राप्त कर सकेंगे।
- पातञ्जल योग सूत्र के अनुसार ईश्वर प्रणिधान का अर्थ क्या है।
- परमात्म स्वरूप को कैसे जान सकेंगे।
- प्रणव मन्त्र से /ॐ कार से परमात्मा वाचक होगा।
- ॐकार मन्त्र जाप का विधान
- प्रणव मन्त्र जप का फल।

16.1 प्रस्तावना

यह शरीर और पूरा ब्रह्माण्ड आपका ही है। यह मन भी आपका ही है। यह मन और इसके सारे द्वन्द भी आपके ही हैं। यह मन और इसकी सुंदरता भी आपकी ही है। इस तरह का समर्पण भी एक प्रक्रिया है जो तुम्हें पुनः स्वयं में स्थापित कर सकती है। ईश्वर प्रणिधान ध्यान में तुम्हें आनंद से भर देता है और समाधि की अवस्था में ले आता है।

दीप–धूप, फल–फूल अर्पण करने में कुछ विशेष नहीं, अपने शरीर के एक एक अंग का अर्पण करो। जीवन के प्रत्येक क्षण का अर्पण करो। हर श्वास, हर विचार, अच्छा बुरा, जैसा भी, सब कुछ अर्पण कर दो। अपनी सभी वासनाओं, दुर्गुणों और जो भी तुम अपने आप में बुरा समझते हो, उस सब को भी अर्पण कर दो। जो भी तुम्हारे में नकारात्मक है और जो भी सकारात्मक है, उस सभी को अर्पित कर दो। नकारात्मक को अर्पण कर देने से तुम मुक्त हो जाओगे और सकारात्मक को अर्पण कर देने से तुम्हें अहंकार नहीं होगा। तुम्हारे गुण तुम्हें अभिमानी बना सकते हैं। गुणों से तुम्हें ऐसा लग सकता है जैसे तुम कुछ विशेष हो। अवगुण अथवा तुम्हारी कमियां तुम्हें नीचे धकेलती हैं और तुम्हें अपने बारे में बुरा लगता है। यदि तुम्हें अपने बारे में बुरा लगने लगे, ईश्वर से सामीप्य न लगे, तब कुछ भी ऐसा नहीं है जो तुम्हें उस जुड़ाव को महसूस करवा सके। इसी लिए शिष्य जिज्ञासा करता है, अति समीप काल में समाधि सिद्धि के लिए क्या यही पूर्वोक्त एकमात्र उपाय अथवा अन्य भी कोई उपाय इस कोटि का कारगर हो सकता है? आचार्य सूत्रकार ने अन्य उपाय बताया।

16.2 ईश्वर प्रणिधान का लक्षण, स्वरूप, विधान एवं फल

(ईश्वरप्रणिधानात्) [1]ईश्वरप्रणिधान से (वा) अथवा । अपेक्षाकृत अल्पकाल में होने वाले चित्तवृत्ति निरोध अथवा समाधि–सिद्धि लाभ के लिए अन्य सर्वश्रेष्ठ उपाय ईश्वर प्रणिधान है। सूत्र में दो पद हैं– ईश्वर और प्रणिधान। ईश्वर का लक्षण आचार्य ने स्वयं अग्रिम सूत्र में बताया है[2]। प्रणिधान पद का तात्पर्य है–अनन्यचित्त होकर पूर्णभक्तिभाव से आत्मसमर्पण पूर्वक उपासना करना। ईश्वर की इस प्रकार से उपासना करने से आराधित हुआ प्रभु भक्त उपासक अभीष्ट को सिद्ध करता है। वस्तुतः उपासक जब सर्वात्मना संसार से विरक्त होकर समस्त भावनाओं को भगवान् में निहित कर देता है, तब व्युत्थानभूमि की चित्तवृत्तियों के उद्भव की सम्भावना नहीं रहती। इसी को प्रभु का प्रसाद कहा गया है–भक्त की भावनाओं को जानता हुआ ईश्वर उसके अभीष्ट को प्रदान कर देता है। इस स्थिति को व्याख्याकारों ने इस रूप में अभिव्यक्त किया है–ईश्वर उस दशा में अभिध्यान (संकल्प) मात्र से भक्त के अभिलषित को सिद्ध कर देता है। ईश्वर को अन्य किसी बाह्य साधन का सहयोग प्राप्त करना अपेक्षित नहीं होता। उपासक द्वारा अपने आपको प्रकृष्ट व प्रवणरूप से ईश्वर में निहित कर देना, यह भाव प्रणिधान पद से स्वतः अभिव्यक्त होता है।

गत सूत्रों में चित्तवृत्तिनिरोध अथवा पूर्णसमाधिसिद्धि के लिए उपाय रूप में परवैराग्य के साथ क्रियानुष्ठान का उल्लेख हुआ है। इसका सर्वोच्च अथवा सर्वश्रेष्ठ स्वरूप ईश्वरप्रणिधान है। आगे (२१) स्वयं सूत्रकार ने क्रियायोग पद से इसका उल्लेख किया है। उसकी अपेक्षित व्याख्या वहाँ कर दी गई है।

प्रसंग प्राप्त ईश्वर के स्वरूप का निर्देश आचार्य सूत्रकार ने किया है।

[2](क्लेश–कर्म–विपाक–आशयैः) क्लेश, कर्म, विपाक और आशयों अपरामृष्टः असंपृक्त–अछूता पुरुषविशेषः विशेष चेतनतत्त्व ईश्वरः, ईश्वर है।

सांख्य–योग के शास्त्रीय विवरणों में प्रकृति–पुरुष पदों का प्रयोग प्रायः होता रहता है। इनमें जैसे प्रकृति पद जड़तत्त्व का बोधक है, इसी प्रकार पुरुष पद चेतनतत्त्व को अभिव्यक्त करता है। वैसा एक साधारण चेतन प्रत्येक मानव, पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतंग आदि के देहों में एक–दूसरे से सर्वथा पृथक् पृथक् विद्यमान रहता है; यह साधारण चेतनतत्त्व (पुरुष) हैं। साधारण इसलिए कि ये समानरूप से विभिन्न देहों में अपने क्रियाकलाप आदि साधनों द्वारा एक–दूसरे से भिन्न जाने जाते हैं। इनसे अतिरिक्त एक विशेष (असाधारण) चेतन है, जो ईश्वर है पहला पुरुष जीवात्मा कहा जाता है।

यद्यपि इन दोनों के चैतन्य स्वरूप में कोई अन्तर नहीं होता, पर अन्य अनेक अन्तर हैं, जिनके कारण ईश्वर को पुरुषविशेष कहा गया है। वह विशेषता उसके नाम ईश्वर पद से अभिव्यक्त होती है। उसका अर्थ है– ऐश्वर्ययुक्त। वह ऐश्वर्य उसके सर्वशक्तिमान् और सर्वान्तर्यामी होने में निहित है। वह चेतनतत्त्व समस्त विश्व का नियन्त्रण करता है; संसार के उत्पत्ति–स्थिति–प्रलय उसके नियन्त्रण का स्वरूप हैं। जीवात्म चेतन यद्यपि संसार में आकर कर्म करने में स्वतन्त्र हैं और आंशिकरूप से अपने लिए प्राकृतिक तत्त्वों का उपयोग करने में बहुत सीमा तक समर्थ है, परन्तु संसार की रचना के बिना न वह कोई कर्म कर सकता है, न कर्मों का फल भोग सकता है। कर्म करके

[1] ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।। २३।।
[2] क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।। २४ ।।

भी अपनी इच्छानुसार फल भोग सकने या न भोगने में वह समर्थ नहीं है। इन सब स्थितियों के लिए संसार की रचना आवश्यक है, जो केवल उस चेतनतत्त्व के सामर्थ्य में है. जिसको ईश्वर कहा जाता है।

प्रकृति उपादान जड़तत्त्व से वह संसार की रचना केवल जीवात्म–पुरुषों के लिए करता है, अपने लिए नहीं। जीवात्म चेतनतत्त्व कर्म करने और उनके फलों को भोगने के लिए देहादि सम्बन्ध द्वारा प्रकृति के सम्पर्क में आते हैं। विद्या–अविद्या जनित शुभ–अशुभ (पुण्य–पाप रूप) कर्मों को करते और कर्मानुसार उनके सुख–दुःखरूप फलों को भोगते हैं। सूत्र में जिन क्लेश आदि का निर्देश है, जीवात्मा बराबर उनमें लिपटा रहता है। क्लेशों का विवरण अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश के रूप में आगे (२३) सूत्रकार ने दिया है। कर्म–वे कार्य हैं, जिन्हें जीवात्मा चेतन देहबन्धन में आकर पुण्य –पाप के रूप में किया करता है। विपाक–उन कर्मों के फल–परिणाम का नाम है, जिन्हें कर्म करने वाला अवसर आने पर सुख–दुःख के रूप में भोगा करता है। जब तक कर्मफल भोगा नहीं जाता, तब तक पूर्वकृत कर्मों के संस्कार आत्मा में बने रहते हैं, इन्हीं संस्कारों को आशय अथवा वासना पद से कहा जाता है ।

जैसा प्रथम कहा गया– ईश्वर संसार को जीवात्माओं के लिए बनाता है, अपने लिए नहीं। इसी कारण वह देहादिबन्धन में कभी नहीं आता। सूत्र– निर्दिष्ट क्लेश आदि चारों स्थितियाँ देहबन्धन में आने पर सम्भव हैं, अतः ईश्वर इन स्थितियों से सर्वथा सर्वदा अछूता रहता है। यह भी जीवात्म–पुरुषों से उसकी विशेषता है।

यद्यपि जीवात्म चेतन शास्त्रप्रतिपादित पद्धति पर आचरण करता हुआ स्वरूप एवं परमात्मा का साक्षात् कर कालान्तर में ऐसे स्तर पर पहुँच जाता है, जहाँ क्लेश, कर्म आदि का स्पर्श उसे नहीं रहता, यह जीवात्मा की मुक्त अवस्था कही जाती है। पर इस अवस्था में भी जीवात्मा ईश्वर के समान स्तर को नहीं पाता। एक अथवा अनेक मुक्त पुरुष भी संसार की रचना में सदा असमर्थ हैं। इसके लिए निम्नलिखित कारणों पर विचार करना चाहिए–

१. जीवात्मा स्वभावतः अल्पज्ञ व अल्पशक्ति है, वह पूर्ण, सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् कभी नहीं होता, जो जगत् रचना आदि कार्यों के लिए आवश्यक है।

२. किसी एक मुक्त आत्मा को जगत् रचयिता इसलिए नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसकी मुक्त अवस्था आने से पहले जगत् बना होता है, उसी में आकर वह देहादि के सहयोग से अष्टांग योग–साधनों द्वारा उस अवस्था को प्राप्त करता है।

३. जगत् रचना का क्रम अनादि मानने पर पूर्व–पूर्व के मुक्त जीवात्मा यथाक्रम जगत् रचना करते आये हैं, यह भी सम्भव नहीं। क्योंकि प्रत्येक मुक्त जीवात्मा चाहे जब कभी उसने मुक्तदशा को प्राप्त किया हो उसके पहले जगत् रचना हुई रहती है। तात्पर्य है–प्रत्येक मुक्त जीवात्मा की मुक्त अवस्था आदि है। उसके प्रकट में आने से पूर्व उसकी अभिव्यक्ति के लिए जगत् सहयोगी रूप में प्रथम विद्यमान रहता है।

४. अनेक मुक्त जीवात्मा मिलकर जगत् रचना में समर्थ हो सकते हों, ऐसा भी सम्भव नहीं। किसी कार्य के कर्त्ता जब अनेक होते हैं, तो उनमें कभी–न–कभी विरोध की सम्भावना बनी रहती है। यदि परस्पर विरोध होने से वह कार्य नहीं बन सका, तो उस कार्य के प्रति उनका ईश्वर होना समाप्त हो जाता है। यदि सब मिलकर एक सम्मति से कार्य करते हैं तो यह भी उपपन्न प्रतीत नहीं होता। क्योंकि जो एक ने कहा या चाहा वही दूसरे ने व अन्यों ने चाहा, कहा, तो कार्य के सम्पादन

में एक का चाहना, कहना ही पर्याप्त है, अन्यों को कर्त्ता माना जाना सर्वथा अनपेक्षित है। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि सबके सम्मिलित होने पर ही रचना करने से प्रत्येक का स्वातन्त्र्य समाप्त हो जाता है तथा यह भी निश्चय करना संभव नहीं कि वे कितने सम्मिलित होते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जगत् का रचयिता एक ही सम्भव है।

जीवात्म चेतन है, इससे स्पष्ट है, वह स्वयं इसका बनाने वाला संसार में सुख–दुःख दोनों देखे जाते हैं, इनका भोक्ता नहीं है। जो बनाने वाला है, वह भोक्ता नहीं, जो भोक्ता है, वह बनाने वाला नहीं। इसलिए भोक्ता जीवात्मा से अतिरिक्त चेतनतत्त्व जगत कर्त्ता सम्भव है। उसी को ईश्वर माना गया है।

सांख्य योग में जहाँ–तहाँ जीवात्म–पुरुष को नित्यमुक्त कहा गया है, तब उसकी मुक्ति को सादि कहने पर शास्त्रसिद्धान्त का विरोध होता है।

सांख्यसूत्र (१।१६) में आत्मा को शुद्ध–बुद्ध–मुक्त स्वभाव बताया है। सांख्य में अशुद्ध वह तत्त्व है, जो परिणामी है, चेतन आत्मा परिणामी न होने से शुद्धस्वभाव है। बुद्ध पद से आत्मा के चेतन स्वभाव को अभिव्यक्त किया है। प्रकृति के सम्बन्ध अथवा सम्पर्क में रहता हुआ आत्मा कभी प्रकृति का स्वरूप नहीं होता। प्रकृति त्रिगुणात्मक है, आत्मा निर्गुण है। प्रकृति के संयोग में भी आत्मा सर्वथा निर्गुण बना रहता है। आत्मा की ऐसी स्थिति को मुक्त पद प्रकट करता है। इसका अर्थ है छूटा हुआ। किससे छूटा हुआ? प्रकृति के त्रिगुणात्मक स्वरूप से। इसी अभिप्राय से आत्मा को मुक्तस्वभाव बताया गया है। इस प्रकार इन पदों से जो अर्थ बोधित होता है, उसे शास्त्रीय परिभाषा ही समझना चाहिए।

मुक्त आत्माओं द्वारा सृष्टिरचना किये जाने के विषय में जो सम्भावना प्रथम प्रकट की गई है, वहाँ मुक्त का तात्पर्य उन आत्माओं से है, जो स्वरूप का साक्षात्कार कर प्रकृति सम्पर्क से छूटकर मोक्ष अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं। इस प्रकार की मुक्ति आत्मा को विशेष साधनों द्वारा किसी विशेषकाल में प्राप्त होती है, इसलिए वह सादि है। आत्मा का नित्यमुक्तस्वभाव केवल उसके निर्गुणस्वरूप को अभिव्यक्त करता है, इस कथन का साधन प्राप्त मुक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं। फलतः सृष्टिकर्त्ता और कर्मफलप्रदाता आदि के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है।।

विश्व–नियन्ता के रूप में ईश्वर ही स्वीकार्य है, इसकी पुष्टि के लिए आचार्य सूत्रकार ने उपोद्बलक प्रमाण प्रस्तुत किया है–

[3](तत्र) वहाँ उस ईश्वर में (निरतिशयम्) सर्वोत्कृष्ट, (जिससे अतिशय–बढ़ोतरी कहीं अन्यत्र सम्भव न हो, ऐसा) (सर्वज्ञबीजम्) सर्वज्ञता का बीज–मूल विद्यमान है। जो सर्वोत्कृष्ट सर्वज्ञता का मूल आधार है, वही विश्व के उत्पत्ति–स्थिति–प्रलय आदि का नियन्ता हो सकता है। अल्पज्ञ, अल्पशक्ति जीवात्मा के लिए ऐसी स्थिति का प्राप्त कर सकना सर्वथा असम्भव है। अतः सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता ईश्वर का स्वीकार करना पूर्णरूप से प्रामाणिक है।

प्राकृतिक पदार्थों में जो यह अतीत, अनागत, वर्त्तमान, एक, अनेक का समूह, अतीन्द्रिय, इन्द्रियग्राह्य, अल्प, महान आदि–भेद देखा जाता है, उनमें एक–दूसरे की अपेक्षा से अल्पता और महत्ता दृष्टिगोचर होती है। व्यावहारिक परिमाण की दृष्टि से जहाँ

---

[3] तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् (सार्वज्ञबीजम्)पाठान्तरम् ।। २५ ।। पात.यो.सू

निरतिशय अल्पता परमाणु में है, वहाँ निरतिशय महत्ता आकाश में है। पदार्थों में छोटे से छोटा परमाणु है और बड़े से बड़ा आकाश। यह परिमाण की दृष्टि से कहा गया। इसी प्रकार जब ज्ञान को लक्ष्य कर विचार किया जाता है, तो वह चेतनधर्म होने से ज्ञान की पराकाष्ठा ईश्वर में सम्भव मानी जाती है। जीवात्म चेतन की अल्पज्ञता का प्रत्यक्ष से भान होता है। मुक्त अवस्था में भी वह पूर्णज्ञानी नहीं हो पाता, सर्ग रचना आदि के ज्ञान से वह तब भी वंचित रहता है, इसलिए सर्वज्ञाता–पूर्णज्ञाता अथवा ज्ञान की पराकाष्ठा का आश्रय ईश्वर को माना जाता है। सर्ग रचना आदि के लिए ऐसा माना जाना नितान्त प्रामाणिक एवं आवश्यक है।

यद्यपि उक्त प्रकार से सामान्यरूप में किसी एक ऐसे तत्त्व का बोध अवश्य हो जाता है, जो सृष्टि आदि की प्रक्रिया में समर्थ हो, परन्तु उसका नाम ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म आदि जो कुछ कहा जाय इसका निर्णय, वेदशास्त्र आदि के द्वारा किया जाना चाहिए। यह प्रथम कहा जा चुका है, सृष्टि की रचना ईश्वर अपने लिए नहीं करता, उसका प्रयोजन केवल प्राणियों पर अनुग्रह करना है। सर्गकाल में देहधारण कर आत्मा ज्ञान धर्म के उपदेश पर आचरण करते हुए सांसारिक दुःखों से अपना उद्धार करने में समर्थ हो सकेंगे। मानव–देह धारण के बिना अमरपद के साधनों का अनुष्ठान असम्भव है–सम्भूत्या अमृतमश्नुते अर्थात् सम्भूति–देह के द्वारा ही अमृत का भोग प्राप्त होता है। फलतः संसार जीवात्माओं के लिए है, ईश्वर के लिए नहीं । उसी तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए परमर्षि कपिल ने मानव हितार्थ सर्वप्रथम दर्शनरूप में सांख्यशास्त्र का प्रवचन किया। इस रूप में कपिल आदि इस विषय के आदिगुरु हैं ।।

वह ईश्वर उन गुरुओं का भी गुरु है, क्योंकि आदि सर्ग में उसने वेदादिसच्छास्त्रों का उपदेश कर कपिल आदि को सन्मार्ग बताया, जो आज भी और सदा मानवमात्र के लिए समान है। इसी भाव को आचार्य सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र में कहा है

[4](पूर्वेषाम्) पहलों का (अपि) भी (गुरुः) गुरु है. (उपदेष्टा है, वह ईश्वर) (कालेन) काल के द्वारा (अनवच्छेदात्) अवच्छिन्न–सीमित न होने के कारण।

ब्रह्मा, कपिल, सनक, सनन्दन आदि तत्त्वदर्शी गुरुओं ने यद्यपि आदिकाल में देह धारण कर मानवमात्र को आत्मज्ञान का उपदेश दिया, परन्तु वे सब देह धारण करने के कारण काल से सीमित रहे। कोई भी देह सदा नहीं रह सकता, वह अनित्य है, एक नियतकाल से सीमित है। किन्हीं जीवात्माओं द्वारा तत्त्वज्ञान का उपदेश देहधारण के बिना सम्भव नहीं। अतः वे ब्रह्मा, कपिल आदि पहले गुरु काल से सीमित रहते हैं। परन्तु ईश्वर काल से कभी सीमित नहीं होता, क्योंकि, उपदेश के लिए उसे शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं होती। वह अशरीर रहता हुआ सर्वशक्तिमत्ता से आदि ऋषियों के आत्मा में वेदज्ञान को अभिव्यक्त कर देता है। काल की सीमा उस पर कोई प्रभाव नहीं रखती। इस प्रकार वह पूर्ववर्ती गुरुओं का भी गुरु माना जाता है। उसका वह उपदेश सार्वकालिक होता है।

जैसे वर्तमान सर्ग के आदि में अपनी प्रकृष्टता से वह वेदोपदेश में समर्थ है, वैसे ही अनादिकाल से चले आ रहे क्रमिक अतीत सर्गों में वेदोपदेश प्राप्त कराता रहा है, यह विश्वास करना चाहिए।।

प्रकृत में अपेक्षित ईश्वर का वाचक पद क्या है? आचार्य सूत्रकार ने बताया है–

---

[4] पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।।२६।।

[5](तस्य) उसका (वाचकः) बोधक (नाम–पद) (प्रणवः) प्रणव–ओ३म् है ।

वेद–वैदिक साहित्य में ईश्वर को अनेक नामों से पुकारा गया है। ब्रह्म, परमात्मा, सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वाधार, निर्विकार, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, आदि, अनुपम, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, सच्चिदानन्द आदि अनेकानेक नामों से उसका उल्लेख शास्त्रों में किया गया है। परन्तु इनमें से अनेक नाम ऐसे हैं, जो बिना किसी बाधा के अन्य तत्त्वों के लिए भी प्रयुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त यह ध्यान देने की बात है कि वे सब नाम अपने प्रवृत्तिनिमित्त के अनुसार परमेश्वर की किसी एक विशेषता को अभिव्यक्त करते हैं। इसके विपरीत परमात्मा का ओ३म् नाम उसके पूर्णस्वरूप को अभिव्यक्त करता है तथा उसके ही स्वरूप को अभिव्यक्त करता है, अन्य किसी तत्त्व के लिए सर्वथा अप्रयुक्त है। इसी कारण परमात्मा का यह मुख्य नाम माना जाता है। इसे योगशास्त्र में महामन्त्र समझना चाहिए। ओ३म् पद की संपिण्डित तथा अकार, उकार मकार वर्णविभागपूर्वक विस्तृत व्याख्या उपनिषत् आदि आर्षग्रन्थों में उपलब्ध है। प्रत्येक उपासक को उसका अर्थ समझना और उसके सार को हृदयंगम कर लेना आवश्यक है। योग के लिए 'ओ३म् का उपयोग अगले सूत्र में निर्दिष्ट है उस उपयोग को सम्पन्न करने के लिए ओ३म् के रहस्यपूर्ण अर्थों को समझ लेना अपेक्षित होता है। उसी के लिए सूत्रकार ने ईश्वर का वाचक 'प्रणव (ओ३म्) बताया है।

प्रणव पद प्र उपसर्गपूर्वक णु–स्तुतौ धातु से निष्पन्न होता है। जिस पद द्वारा प्रकृष्टरूप से परमात्मा की स्तुति की जाये, उस पद को प्रणव कहते हैं। [6]ऐसा वह पद ओ३म् है। नव पद का अन्य अर्थ नवीन भी है। तात्पर्य है जो पद अपने वाच्य का बोध कराने में सदा नवीन के समान तरोताजा बना रहे, जिसमें कभी शिथिलता व बुढ़ापा (जरा) न आवे। परमात्मा के अजर, अमर, अभय, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् आदि अन्य नाम किसी विशेष प्रवृत्ति–निमित्त के आधार पर हैं। जब एक प्रवृत्तिनिमित्त के आधार पर परमात्मा का अजर, अमर आदि कोई नाम लिया जाता है, तब वैसे दूसरे नाम वहाँ शिथिल हैं, उनका प्रवृतिनिमित्त वहाँ जरा–जीर्ण रहता है। जैसे– अमर के प्रयोग में अभय तथा अभय के प्रयोग में अन्य नाम । परन्तु ओ३म् ऐसा नाम है, जिसमें अन्य किसी नाम का प्रयोग होने पर कभी शिथिलता नहीं आती, क्योंकि यह परमात्मा पूर्णरूप को अभिव्यक्त करता है। इसलिए इसको प्रणव कहा गया है, परमात्मा का अन्य कोई नाम प्रणव नहीं कहा जाता।

शास्त्रकारों ने परमात्मा का सत्–चित्–आनन्दस्वरूप बताया है। परमात्मा का यह मौलिक व पूर्णरूप ओ३म् पद के विभाजित तीन वर्णों से बोधित व अभिव्यक्त होता है। अकार से आनन्द, उकार से चित् और मकार से सत् का बोध होता है। उच्चारणरूप में ओ३म् के दो भाग हैं– ओ३ और म्। ओ में अकार उकार मिले हुए हैं। इनमें प्रथम अकार सर्वोत्कृष्ट आनन्द–स्वरूप केवल परमात्मा बोधित होता है, तथा चित् से परमात्मा – जीवात्मा दोनों। इन दोनों वर्णों का मेल दोनों के समानवर्गीय होने को अभिव्यक्त करता है। इनका प्लुतभाव, मानो उच्चस्वर से घोषित करता है कि चैतन्य इन दो के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है। नाम का दूसरा भाग ईश्वर, जीव, प्रकृति इन तीनों सत्–तत्त्वों को अभिव्यक्त करता है। यद्यपि तीनों सत् हैं, पर तीसरे की सत्ता में पहले दोनों की सत्ता से कुछ अन्तर रहता है, इसलिए उसको व्यंजन वर्ण और भिन्न विभाग द्वारा प्रकट किया गया है। पहले विभाग के स्वर वर्णों (अ, उ) से अभिव्यंजित

---

[5] तस्य वाचकः प्रणवः।। २७।। पा.यो.सू

[6] मुण्डक–2–2–3–4

तत्त्व स्वयं राजित–प्रकाशित रहते हैं। (स्वयं राजन्ते इति स्वराः)। उनकी सत्ता सदा एकरूप अपरिणामी है, परन्तु तीसरा सत्–तत्त्व परिणामी रहता है। अतः उसका संकेत पृथक् विभाग द्वारा अभिलक्षित किया गया है। जगत् का मूल उपादान जड़तत्त्व (प्रकृति) चेतन–प्रेरणा के बिना कुछ भी करने में असमर्थ रहता है, वह अपनी प्रत्येक क्रिया के लिए चेतन पर अवलम्बित है। यह भव भी पूर्वतत्त्वों की सत्ता से इस सत्ता को पृथक् लक्षित करता है। यह स्थिति स्पष्ट करती है–ओ३म् नाम ईश्वर के पूर्णस्वरूप को अभिव्यक्त करने में समर्थ है। ओ३म् ईश्वर का वाचक और ईश्वर उसका वाच्य है। ओ३म् नाम ईश्वर नामी है। ओ३म् अभिधान और ईश्वर अभिधेय है। प्राचीन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने बताया– यह ओ३म् पद और ईश्वर अर्थ का वाच्य–वाचक सम्बन्ध संकेत से जन्य नहीं है, यह नित्य सम्बन्ध है। प्रणव ईश्वर का वाचक है यह संकेत–कथन केवल उस सम्बन्ध को अभिव्यक्त करता है, पहले से विद्यमान सम्बन्ध को प्रकट करता है, उत्पन्न नहीं करता जैसे पिता–पुत्र के विषय में कहा जाता है– यह इसका पिता और यह इसका पुत्र है यह संकेत – कथन पिता–पुत्र के सम्बन्ध को उत्पन्न नहीं करता. प्रत्युत पहले से विद्यमान सम्बन्ध को प्रकटमात्र करता है। अथवा जैसे अंधेरे घर में रखे पदार्थों को प्रदीप प्रकाश केवल प्रकाशित कर देता है, उन्हें उत्पन्न नहीं करता, इसी प्रकार ईश्वर का वाचक प्रणव है यह संकेत–कथन ईश्वर और प्रणव के वाच्य वाचक सम्बन्ध को उत्पन्न नहीं करता. प्रत्युत पहले से विद्यमान सम्बन्ध को केवल प्रकट करता है फलतः यह वाच्य–वाचक सम्बन्ध नित्य है, संकेतजन्य नहीं। पद और अर्थ का ऐसा सम्बन्ध अनादिकाल से चालू है. तत्त्वज्ञ आचार्यों ने समझाया है। यह ईश्वरप्रणिधान से समाधिलाभ का निर्देश प्रथम किया है। उपासक योगी जब ईश्वर और प्रणव के वाच्य–वाचक सम्बन्ध को जान लेता है, तब वाचक पद के द्वारा वाच्य के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास करता है। यही ईश्वरप्रणिधान है। आचार्य सूत्रकार ने उसकी पद्धति का निर्देश किया है–

[7](तज्जपः=तत् जपः) उसका जप, और (तत्–अर्थ भावनम्) उसके अर्थ की भावना करना ।

सूत्र का प्रथम तत् सर्वनाम पद प्रणव का परामर्श करता है। प्रणव ओ३म् है. अतः सूत्रार्थ हुआ ओ३म् का जप करना। दूसरा तत् सर्वनाम पद भी प्रणव का बोधक है। तात्पर्य हुआ ओ३म् का जप करते समय उसके अर्थ का भावन–चिन्तन अवश्य करते रहना चाहिए। यही ईश्वरप्रणिधान है, इससे शीघ्र समाधिलाभ की सम्भावना रहती है। (द्रष्टव्य, सूत्र २०४५)

परमात्मा के ओ३म् नाम की महत्ता और उसके जप विधान के शास्त्रीय संकेतों का निर्देश गतसूत्र की व्याख्या में कर दिया गया है। प्रणव के जप का तात्पर्य है–ओ३म् का निरन्तर मानसिक उच्चारण, जिसमें वाक् इन्द्रिय का व्यापार नितान्त नहीं होना चाहिए। प्रणव की मानसिक कल्पना के साथ प्रणव के अर्थ का निरन्तर चिन्तन करते रहना। प्रणव का वाच्य अर्थ परमात्मा है, उसके स्वरूप को अपने ध्यान से न हटने देना उसका चिन्तन है। यह स्थिति प्राप्त करना यद्यपि अति कठिन है, पर निरन्तर तथा दीर्घकाल अभ्यास से इसका आभास होने लगता है। तब वह स्थिति अभ्यासी को निरन्तर अपनी ओर आकृष्ट करती रहती है, चित्त चाहने लगता है कि यही स्थिति बराबर बनी रहे। अभ्यास की प्रथम दशा में एक क्षण भी इस प्रकार चित्त रुकना कठिन होता है। ध्यान के लिए बैठते ही अभ्यस्त जीवन के सब खुराफात एकदम

[7] तज्जपस्तदर्थभावनम् ।।२८।।

उभरकर सामने आ जाते हैं। धीरे–धीरे उनको हटाते हुए ओ३म् जप के आधार पर चित्त को परमात्मस्वरूप में एकाग्र करने का प्रयास करते रहना अपेक्षित होता है।

परमात्मा के कैसे स्वरूप का चिन्तन होना चाहिए इस विषय में अभ्यासी व्यक्तियों का कहना है–परमात्मा के किसी आकार की कल्पना नहीं हो सकती, उसे चेतन, आनन्द प्रकाशस्वरूप बताया जाता है। ध्यान के समय उसका यही स्वरूप चिन्तन का लक्ष्य रहता है। उपासक यह कल्पना करता है कि मेरे सब और प्रकाश ही प्रकाश फैला हुआ है, उस दिव्य प्रकाश में सब कुछ अन्तर्हित हो गया है; सर्वत्र विस्तृत प्रकाश के अतिरिक्त अन्य कोई कल्पना चित्त में न उभरने दे। वह प्रकाश अनन्त अनुपम आनन्द से परिपूर्ण है, ऐसी भावना जागृत रखे। तात्पर्य है–उपासक अपने आपको समस्त विश्व में परिपूर्ण उस दिव्य प्रकाश व आनन्द के मध्य में बैठा हुआ कल्पना करे, मेरे चारों ओर ऊपर–नीचे तेजोमय आनन्द ही आनन्द भरा हुआ है। प्रणव–जप के साथ इस परमात्मास्वरूप चिन्तन की दृढ़ता व नैरन्तर्य चित्त की एकाग्रता का चिह्न है। यह स्थिति बड़े परिश्रम व पुण्य से प्राप्त होती है। प्राप्त चाहे जब हो, पर इस स्थिति की प्राप्ति के विषय में सन्देह का अवकाश नहीं है।

ओ३म् के जप करने की भी विशेष विधि है, जो इस मार्ग के अभ्यासीजनों की परम्परा में प्रचलित है। यह ओ३म् का जप श्वास–प्रश्वास की गति के साथ करना चाहिए। प्रथम अभ्यासी शारीरिक दृष्टि से शुद्ध पवित्र होकर अभ्यास योगासन से बैठ पाँच–छह प्राणायाम करे। उसके अनन्तर श्वास–प्रश्वास गति सम होने पर ओ३म् का जप प्रारम्भ करे। जप के लिए इसके दो भाग किये जाते हैं, एक ओ३ दूसरा– म्। श्वास लेते समय उपासक को कल्पना करनी चाहिए कि श्वास के साथ–साथ नाभिप्रदेश से उठकर ओ३ की ध्वनि मस्तिष्क तक पहुँच रही है। यह ओ की प्लुत ध्वनि का स्वरूप है।

अभ्यासी को इस बात का ध्यान रखना चाहिए, वह अपने रिक्त समय में अध्यात्म सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन–पारायण करता रहे, इधर–उधर के अप्रासंगिक साहित्य के अवलोकन में अपना समय नष्ट न करे। इस प्रकार की प्रवृत्ति उसे कभी–कभी अपने निर्धारित मार्ग से उठाकर दूर पटक देती है। अध्यात्म ग्रन्थों के पर्यालोचन अभ्यासी के विचारों को अभिलषित मार्ग के अनुकूल बनाये रखता है। योग और स्वाध्याय का साथ–साथ चलते रहना आत्मसाक्षात्कार में सहायक होता है।

आचार्य सूत्रकार ने प्रणवजप आदि अनुष्ठान का फल बताया

[8](ततः) उससे (प्रत्यक्–चेतन–अधिगमः) प्रत्यक्चेतन अन्तरात्मा का अधिगम–ज्ञान साक्षात्कार, (अपि) भी (अन्तराय अभावः) अन्तराय–विघ्नों बाधाओं का अभाव (हो जाता है) (च) तथा।

प्रणव के जप और उसके अर्थ की भावनारूप ईश्वर प्रणिधान से अन्तरात्मा का साक्षात्कार हो जाता है तथा आत्मसाक्षात्कार होने में जो विघ्न–बाधाओं की सम्भावना रहती है. उनका भी अभाव हो जाता है। तात्पर्य है–ईश्वर–प्रणिधान से निर्विघ्न निर्बाध आत्मसाक्षात्कार हो जाता है।

गत २३वें सूत्र में समाधिलाभ के लिए ईश्वरप्रणिधान को साधन बताया है। यह ऐसा साधन है, जिससे अन्य साधनों की अपेक्षा– शीघ्र सफलता प्राप्त होती है।

[8] ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।। २६।।

सूत्र के प्रत्यक्चेतन पद का अर्थ है–देह के अन्दर बैठा हुआ चेतन आत्मा । बाह्य विषयों की ओर से विमुख होकर जो चेतन अपने अन्तःकरण तक सीमित रहता है, अर्थात् बाह्य विषयों से विरक्त हुआ उनकी ओर प्रवृत्त नहीं होता, केवल अन्तःकरण (बुद्धि) के सहयोग से परमात्मा के चिन्तन (समर्पण भावना से ध्यान करते रहने में प्रवृत्त रहता है; वह प्रत्यक्चेतन जीवात्मा तत्त्व है। अथवा जो देह में विद्यमान चेतन बुद्धि, इन्द्रिय आदि कारणों के सहयोग से अपने विपरीत जड़ पदार्थों तक पहुँचता उनको जानता एवं भोगता है, वह प्रत्यक्चेतन है। भाष्यकार ने इस प्रत्यक्चेतन को बुद्धेः प्रतिसंवेदी लिखा है। तात्पर्य है जो बुद्धि के सहयोग से प्रत्येक बाह्य पदार्थ को जानने में समर्थ होता है। यहाँ बुद्धि पद प्रधान होने से सब कारणों का उपलक्षण है। यह प्रत्यक्चेतन (जीवात्मा–पुरुष) अपने साक्षात्कार के लिए ईश्वरप्रणिधान का अनुष्ठान करता है, और उससे समाधिदशा को प्राप्तकर स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है।

जिज्ञासा होती है–अन्य (ईश्वर) के प्रणिधान से अन्य (जीवात्मा) का साक्षात्कार कैसे हो जाता है? जिसका प्रणिधान किया जाय, उसका साक्षात्कार होना संगत कहा जाता है। अन्य के प्रणिधान से अन्य का साक्षात्कार कहना प्रमाण संगत न होगा।

वस्तुतः जीवात्मा और परमात्मा दोनों समानवर्गीय तत्त्व है।[9] दोनों चेतन, अ–त्रिगुण अपरिणामी वृद्धि ह्रास आदि से रहित एवं ज्ञाता हैं। इनसे विपरीत त्रिगुणात्मक तत्त्व जड़, परिणामी. वृद्धि ह्रास आदि से युक्त एवं केवल ज्ञेय होता है।

इस प्रकार समानवर्गीय होने के कारण एक के प्रणिधान से अन्य का साक्षात्कार प्रमाणसंगत है। जैसे एक दीपक के प्रज्वलित कर लिये जाने पर उससे अन्य दीपक अनायास प्रज्वलित कर लिया जाता है; यही स्थिति ईश्वरप्रणिधान से आत्मसाक्षात्कार में समझनी चाहिए। चेतन, नित्य आदि रूप में समान होने पर भी जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, एकदेशी तत्त्व है, इसे अपने अनेक कार्यों की सफलता में परमात्मा के अनुग्रह कृपाभाव की अपेक्षा सदा बनी रहती है। मानवजीवन की आत्मसाक्षात्कार विषयक पूर्ण एवं अन्तिम सफलता के लिए भी ईश्वरप्रणिधान प्रधान साधन है, ऐसा समझना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में ईश्वरप्रणिधान के दो फल बताये। एक–आत्मतत्त्व का प्रत्यक्षबोध, दूसरा उसमें आनेवाले विघ्नों का अभाव। इनमें पहला योग अथवा समाधि के अन्तिम दशा है जिसके विषय में सूत्रकार ने बताया– उस दशा में आत्मद्रष्टा स्वरूप में अवस्थित होता है। उससे पहले तक आत्मा जितनी दशाओं में से गुजरता है, उन सबमें आत्मा का प्रकृति के साथ सम्पर्क बना रहता है। आत्मा की इस दशा में मध्यकालिक आचार्यों ने आत्मा को सबल सगुण तथा अपर नाम दिया है। इसकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति दशाओं के आधार पर इस सबलरूप के यथाक्रम विश्व, तैजस, प्रज्ञ नाम बताये हैं। सबल आत्मा के ये नाम यथाक्रम स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर के साथ आत्मा के सम्बन्ध के आधार पर हैं।

जैसे शरीर के साथ सम्बन्ध से सबल आत्मा इस रूप में समझा जाता है, ऐसे ही स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप प्रकृति के सम्बन्ध से परब्रह्म परमात्मा का सबलरूप यथाक्रम विराट, हिरण्यगर्भ और ईश्वर नाम से समझना चाहिए।

वस्तुतः आत्मतत्त्व के विषय में इस प्रकार का विवेचन उन मध्यकालिक आचार्यों ने

---

[9] यदात्मत्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। श्वे–2–15 इन दोनो तत्त्वों के समानवर्गीय होने के लिए द्रष्टव्य है ऋ–1–164–20।। यजु–31–18–19.

प्रस्तुत किया है, जो जीवात्मा–तत्त्व को परब्रह्म परमात्मा–तत्त्व से अतिरिक्त नहीं मानते। उनकी इस विवेचना का कारण क्या रहा होगा, यह जानना यहाँ अपेक्षित नहीं, परन्तु आत्मतत्त्व के इस प्रकार के विवेचन को सांख्य योगाचार्यों ने आदर नहीं दिया है। प्रस्तुत शास्त्र की मान्यता है–आत्मतत्त्व के प्रकृति–सम्पर्क में आने पर भी आत्मा के शुद्ध निर्गुण चेतनस्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। सम्पर्क होने पर भी ये एक दूसरे में मिश्रित नहीं होते। इनका अन्योऽन्य मिथुनीभाव कभी नहीं होता। सम्पर्क में आने का कवेल इतना तात्पर्य है कि चेतन आत्मतत्त्व अभिलषित कार्यों की पूर्ति के लिए प्रकृति को अपने साधन के रूप में उपयोग करता है। यह उपयोग का क्रम जीवात्मतत्त्व के लिए पूर्णसमाधि प्राप्ति के पहले तक बना रहता है, जब इसका उपयोग अपेक्षित नहीं रहता, उसी को आत्मा द्रष्टा की स्वरूपावस्थिति कहा गया है। इससे पहले की शेष दशा को वृत्तिसरूप (सूत्र–४) कहा है। पर उस दशा में भी आत्मा अपने शुद्ध निर्गुण चेतनस्वरूप से वञ्चित नहीं होता।

परब्रह्म परमात्मा का प्रकृति के साथ सम्पर्क जगत् की उत्पत्ति–स्थिति–प्रलय द्वारा प्रकट किया जाता है। इससे परमात्मा का स्वरूप सबल, मिश्रित, सगुण, अपर (निम्नकोटि) का नहीं हो जाता। यदि ऐसा प्रस्तुत शास्त्र को अभिमत होता, तो वह पूर्णसमाधिलाभ के लिए ईश्वरप्रणिधान का निर्देश न करता । क्योंकि ईश्वर उस पर आत्मतत्त्व का सबलरूप है, जो कारण भू प्रकृति के सम्पर्क से उभरता है। गतसूत्र (२३) में ईश्वर पद से वही परात्मतत्त्व अभिप्रेत होना चाहिए. जो शुद्ध निर्गुण चेतन है और जिसका अनुग्रह प्रकृतिबन्धन से छुड़ा सकता है। जो स्वयं सबल है. प्रकृति से प्रभावित है, उसका प्रणिधान उक्त कार्य के लिए निष्फल होगा।

यदि आत्मतत्त्व का इस प्रकार का विभाग–विवेचन व्यवहार स्थिति को सुगमता से समझाने के लिए एक पद्धति क रूप में प्रस्तुत किया गया हो, तो कोई विशेष आपत्ति की बात न होगी ।

16.3 सारांश

प्रस्तुत पाठ में "योगदर्शन में ईश्वर–प्रणिधान की व्याख्या" इस विषय के अंतर्गत ईश्वर–प्रणिधान के वास्तविक स्वरूप के अन्वेषण का प्रयास किया गया है। सभी दर्शनों में मुक्ति प्राप्त करने के अनेक साधनों का उल्लेख प्राप्त होता है । इस पाठ में योगदर्शन की दृष्टि से ही इसकी विवेचना की गई है। योगदर्शन में अष्टांग योग के साथ–साथ "समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्" कहकर समाधि की सिद्धि में ईश्वर प्रणिधान को स्वीकार किया है। सर्वेक्षण से यह पता चलता है कि योगदर्शन में चित्त, चित्तवृत्ति, अष्टांग योग तथा आधुनिक युग में योग के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर अधिक कार्य हुए हैं। जो स्थान ईश्वर–प्रणिधान को प्राप्त होना चाहिए था वह नगण्य है। इस विषय पर कार्य अत्यल्प हुआ है । इसीलिए इस ग्रन्थ में समाधि प्राप्ति में ईश्वर–प्रणिधान के महत्वपूर्ण योगदान पर अधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

ईश्वर प्रणिधान की परिभाषा हम इस प्रकार करते हैं– इस शरीर में पांच तत्व हैं – १. पृथ्वी २. जल ३. तेज ४. वायु ५. आकाश सारे पदार्थ आकाश में स्थित हैं। पृथ्वी सब को धारण कर रही है, जल प्राणियो का प्राण है, तेज–आत्मा है और वायु–संचालन करने वाला है। संसार में जितने पदार्थ हम देखते हैं–सभी इन तत्वों से बने हुए हैं। इन तत्वों के बिना संसार का काम एक क्षण भी नहीं चल सकता। यह पांचों तत्व, अपने अपने "सजातीय तत्वों" की ओर जाते रहते हैं। अन्त में वे हमारा साथ छोड़ देंगे क्योंकि हम (जीव) उनमें के नहीं हैं, किन्तु कुछ ईश्वर से मिलते–जुलते है। "ईश्वर"

और "हम" दोनों निराकार और चेतन हैं। ईश्वर "अमृत" और हम "अमृतपुत्र" हैं। ईश्वर और हम में देश काल की दूरी नहीं है; केवल ज्ञान की दूरी है, जो उपासना (समीप–योग) करने से दूर हो सकती है। सर्वदा और सर्वावस्था में ईश्वर के समीप रहना अर्थात् परम पिता परमात्मा, परम गुरु, परम सहायक परमात्मा को सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वेश्वर, सर्वाधार, अन्तर्यामी, सकलदुःख विनाशक, सच्चिदानन्द स्वरूप जानकर स्तुति, प्रार्थना, उपासना और समर्पण भाव से प्राण मन, श्रोत्र, नेत्र और वाणी को ईस्वर के अनुकूल बना लेना अर्थात जीवन का एक श्वास भी ईश्वर के प्रतिकल नहीं रखना नचिकेता ध्रुव प्रह्लाद् मीरा जैसा प्रेम भाव धारण कर लेना। ईश्वर के चरणों में सर्वस्व समर्पित कर देना ।

16.4 शब्दावली

प्रणिधान	–	भक्तिपूर्वक सब कर्मों का समर्पण करना
समाधि	–	योग का अंतिम अंग, मन को ब्रह्म पर केंद्रित करना
ॐकार	–	प्रणव मन्त्र –(अकार, उकार, मकार, नाद, बिन्दु, घोष, शान्त और अतिशान्त)
सर्वोत्कृष्ट	–	जिससे अतिशय–बढ़ोतरी कहीं अन्यत्र सम्भव न हो
अनवच्छेद	–	सीमित नहीं होनेवाला (निस्सीम/अपरिमित)
प्राणायाम	–	श्वास–प्रश्वास की गति का नियमन
अर्थभावनम	–	विषयवस्तु को अनुसन्धान करना
चेतनतत्त्व	–	वह तत्व है जिसमें ज्ञान की, भाव की और व्यक्ति, अर्थात् क्रियाशीलता की अनुभूति है
अन्तराय	–	विघ्न/प्रतिबन्धक

16.5 बोध/अभ्यास प्रश्न

1. ईश्वर प्रणिधान का स्वरूप निरूपण करें?
2. "ईश्वर/परमात्म का स्वरूप" विषय के बारे में विस्तृत टिप्पणी लिखें ?
3. प्रणव मन्त्र की व्याख्या कीजिएं?
4. प्रणव मन्त्र से परमात्म तत्त्व को समन्वय कीजिए ?
5. प्रणव मन्त्र जप का फल के बारे में विस्तृत लेखन का रचना कीजिए ?

16.6 सन्दर्भग्रन्थसूची

- पातंजल योगसूत्र, व्याख्याकार, श्रीनन्दलाल दशोरा हरिद्वार रणधीर प्रकाशन १६६७।
- योगदर्शन, प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या व्याख्याकारस्वामी, श्री अड़गड़ानन्दजी, मुम्बई, श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट ।
- योगदर्शन, व्याख्याकार पं. राजाराम प्रोफेसर, लाहौर साहित्य प्रचारक मण्डल १६२२।
- पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्याख्याकार डॉ.सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, वाराणसी, चौखम्बा

सुरभारती प्रकाशन।

- पातञ्जल योगदर्शनम्व्याख्याकार श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी विज्ञानाश्रम अजमेर, दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस १६३२।
- पातञ्जल योगसूत्र बंगाली बाबा व्याख्या (हिन्दी अनुवादक, कुमारी बृजरानी देवी, पूना एन. आर. भार्गव, १६४८ ।
- योगदर्शन समीक्षा लेखक प. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, वाराणसी कृष्णदास अकादमी, १६६७।
- योगतत्त्वाङ्क .कल्याण विशेषाङ्क, गीताप्रेस गोरखपुर, वर्ष १६६ ।
- भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व, लेखक – एम. हिरियन्ना, अनु प्रकाश नारायण शर्मा सेन्ट्रल बुक डिपो, १६५४ ।
- भारतीय दर्शन की रूपरेखा, लेखक –प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, १६७४ ।
- भारतीय दर्शन, लेखक – आचार्य बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, चौखम्भा ओरियन्टालिया, १६७६ ।
- भारतीय दर्शन, लेखक –वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद,लोकभारती प्रकाशन, २००६।

इकाई 17 चित्तविक्षेप एवं चित्त के परिकर्म (समाधिपाद, सूत्र 30–40)

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

- विक्षेप और चित्त के परिकर्म अथवा अन्तराय से प्रकार जानेंगे।
- शारीरिक अन्तरायों के विषय में जानेंगे।
- मानसिक व्यवधानों के विषय में जानेंगे।
- पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार चित्तविक्षेप एवं चित्त के परिकर्म को जान सकेगें।
- चित्तविक्षेप एवं चित्त के परिकर्म के अर्थ एवं लक्षणों को समझ सकेंगे।
- चित्तविक्षेप एवं चित्त के परिकर्म प्रयोजन एवं व्यावहारिक उपादेयता को समझ सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आप चित्त में उत्पन्न हुये विभिन्न, शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक विक्षेपों के विषय में जानेंगे। इस इकाई में आप जानेंगे कि किस प्रकार शारीरिक मानसिक और भावनात्मक विक्षेप शरीर व मन को असन्तुलन की अवस्था में लाकर साधना बाधित करते हैं। सचराचर लोक में सुख एवं दुःख की अनुभूति प्रत्येक जीव को होती है। कर्माशय की तीव्रता के कारण किसी को तीव्र दुःखानुभूति होती है तो किसी को मन्द दुःख की अनुभूति होती है। इन दुखों के करणों की चर्चा करेंगे।

17.2 चित्तविक्षेप एवं चित्त के परिकर्म

महर्षि पतंजलि ने योग मार्ग में आने वाली बाधाओं की मुख्य संख्या नौ बताई है जो इस प्रकार है–

'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्त्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः' ।। 1/30 ।।

उपर्युक्त सूत्र में अन्तराय लक्ष्य है और चित्तविक्षेप यह लक्षण है। साक्षात् चित्त के जो विक्षेप करने वाले तत्त्व हैं उन्हीं को अन्तराय कहा जाता है। व्याधि आदि के अतिरिक्त विषय आदि भी परम्परया चित्त के विक्षेपक तत्त्व हैं। चित्त का विक्षेपक रजोगुण भी

होता है किन्तु चित्त में रहते हुये चित्त के विक्षेपक तत्त्व यह व्याधि आदि है। योग के प्रतिबन्धक तत्त्व जो कि अन्तराय कहे जाते हैं जो कि चित्त के मल कहे जाते है और ये दुखादि के जनक हैं। अर्थात् – व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व ये चित्त के विक्षेप हैं तथा समाधि की प्राप्ति में बाधारूप हैं। व्याधि–स्त्यान आदि ऐसी शारीरिक व मानसिक अवस्थाएँ हैं, जो कि चित्त में विक्षेप अर्थात् खलबली या हलचल पैदा कर देती हैं तथा ऐसी प्रत्येक चीज, जो कि चित्त में हलचल पैदा करती हो, समाधि अवस्था की प्राप्ति में बाधा बन जाती है। इसी कारण व्याधि–स्त्यान आदि को समाधि– अन्तराय या समाधि–विघ्न कहा गया है। इनका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है

1. व्याधि – शरीर व मन के स्वाभाविक क्रियाकलापों में पैदा हुआ किसी भी प्रकार का व्यवधान व्याधि कहलाता है। आयुर्वेद में इस व्यवधान का कारण वात, पित्त व कफ की विषमता बताया गया है।

2. स्त्यान– चित्त की अकर्मण्यता स्त्यान कहलाती है। स्त्यान के कारण चित्त योग के अनुष्ठान में अर्ह नहीं हो सकता है।

3. संशय – किसी विषय के सकारात्मक व नकारात्मक ध्रुवों को मानसिक विचारणा के माध्यम से साथ–साथ छूना संशय कहलाता है। यथा – मैं योगमार्ग पर चल सकूँगा या नहीं । योगमार्ग पर चलने पर भी मुझे समाधि अवस्था प्राप्त होगी या नहीं। यह संशय की अवस्था है। संशय का तात्पर्य यह भी है कि योग के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है अथवा नहीं।

4. प्रमाद – योग के साधनों का अनुष्ठान न करना प्रमाद कहलाता है। मानसिक लापरवाही। समाधि के साधन में प्रयत्न नहीं करना भी प्रमाद कहलाता है।

5. आलस्य – शरीर व चित्त का भारीपन आलस्य कहलाता है। कफ आदि के प्रयुक्त शरीर के गुरु होने से तमोगुण के प्रयुक्त चित्त गुरू होने से शरीर का अथवा चित्त का समाधि साधनों का अनुष्ठान है।

6. अविरति – चित्त में विषयभोगात्मक लालसा का पैदा हो जाना अर्थात् रूप–रस आदि ऐन्द्रिक विषयों को – भोगने की इच्छा का पैदा हो जाना अविरति कहलाता है। इसे हम अवैराग्य की अवस्था भी कह सकते हैं। चित्त की विषय प्राप्ति की अभिलाषा।

7. भ्रान्तिदर्शन – मिथ्याज्ञान को ही भ्रान्तिदर्शन कहते हैं । यथा– योग के साधनों के अनुष्ठान को व्यर्थ मानना । अथवा योग समाधि का साधन नहीं है इस प्रकार से विपरीत ज्ञान भी भ्रान्तिदर्शन है।

8. अलब्धभूमिकत्व – समाधि की अवस्था न बन पाना अलब्धभूमिकत्व कहलाता है। मधुमती, मधुप्रतीका, मधुविशोका और संस्कारशेष ये सब चारों चित्त के भूमि विशेष है। इन चारों अवस्थाओं में योग के अनुष्ठान करने से भी समाधि का लाभ नहीं प्राप्त होता है।

9. अनवस्थितत्व – प्राप्त कर ली गयी समाधि की अवस्था का स्थिर न हो पाना अनवस्थितत्व कहलाता है। किसी एक मधुमती, दो अथवा तीन के लाभ होने पर परिपूर्ण स्वीकार कर लेना ही चित्त की अनवास्थितत्व है।

चित्त के विक्षेपक व्याधि आदि अन्तराय से अतिरिक्त भी विक्षेप के साथ–साथ रहने वाले तत्त्व विद्यमान हैं। जो इस प्रकार है –

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ।। 1/31।।

अर्थात् – दुःख, हताशा, शरीराङ्गों में सूक्ष्म कंपन, असहज श्वास–प्रश्वास विक्षेप सहभागी हैं अर्थात् ये सब पूर्वोक्त चित्तविक्षेपों के साथ–साथ पैदा हो जाते हैं। विक्षेपों के साथ होने वाले विक्षेप सहभूव हैं इसको विक्षेपानुचर कहे जाते हैं। इनमें से प्रथम दुख है। यह दुख तीन प्रकार का है – आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। आध्यात्मिक दुख शारीरिक और मानसिक दो है। शरीर की संरचना वात, पित्त और कफ की अवस्थाविशेष होने पर होती है, यदि जब वात, पित्त और कफ इन तीनों में से किसी एक के भी कम अथवा अधिकता हो जाये तब शरीर की स्वस्थता समाप्त होने की सम्भावना अत्यधिक होने लगेगी। अतः वात, पित्त और कफ के विषमता से होने वाले दुःख को शारीरिक दुःख कहते हैं। वस्तुतः शरीर के निमित्त समुत्पन्न दुख का नाम शारीरिक दुख है। मानसिक दुख काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद आदि विषय के दर्शन के द्वारा होते हैं। मानसिक दुःख का उदाहरण है कि जब न चाहने वाले व्यक्ति यात्रा के समय सम्मुख विराजमान हो जाये, वह व्यक्ति किसी भी प्रकार से वाणी आदि के द्वारा उसको कष्ट नहीं पहुंचाता है किन्तु फिर भी उसको देखकर होने वाला कष्ट मानसिक दुख है। मानसिक दुःख प्रियवियोग और अप्रियसंयोग से समुत्पन्न होता है। यह दोनों प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुख आन्तरिक उपाय से साध्य होने से आध्यात्मिक दुख हैं।

बाह्य उपाय से समुत्पन्न होने वाला दुख आधिभौतिक और आधिदैविक के भेद से दो प्रकार का है। आधिभौतिक दुख के अन्तर्गत मनुष्य, पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप और स्थावर के द्वारा समुत्पन्न होता है। आधिदैविक दुख यक्ष, राक्षस और विनायक आदि देवों से समुत्पन्न होने वाला दुख भी आधिद्वैक दुख के नाम से व्यवह्त होता है। इस प्रकार से तीनों दुःखों के द्वारा अन्तःकरण में विद्यमान चेतना शक्ति के प्रतिकूलतया वेदनीय होने से उससे होने वाला अभिघात ही दुख है।

जब पूर्वसूत्र में कहे गये व्याधि–स्त्यान आदि समाधि के विघ्न होते हैं, तो अधिकांशतया उनके साथ–साथ एक प्रकार का मानसिक दुःख– हताशा – शरीर के अङ्गों में सूक्ष्म कंपकपी तथा लयहीन श्वास–प्रश्वास भी पैदा हो जाते हैं। ये भी व्याधि–स्त्यान आदि की भाँति समाधि अवस्था की प्राप्ति में बाधक हैं क्योंकि ये भी चित्त में एक प्रकार का क्षोभ या हलचल पैदा कर देते हैं और यह पूर्वसूत्रों में बताया जा चुका है कि प्रत्येक वह चीज समाधि अवस्था के आविर्भाव में बाधक बन जाती है जो कि चित्त में विक्षोभ पैदा करती हो। दौर्मनस्य अर्थात् अभिलाष विघात होने से चित्त का क्षोभ होना। अङ्गों में कम्पन होना ही अङ्गमेजयत्व कहलाता है। श्वास अनिच्छा होने पर भी उसके प्रयत्न से रहित होकर स्वयमेव प्राणी बाह्यवायु का अतिशय रूप से आचमन करता है, पीता है और शरीर के अन्दर प्रवेश करता है उसको श्वास कहते हैं। अनिच्छा होने पर भी प्रयत्न से रहित स्वयं प्राण को कौष्ठ्य में निरूसार और बाह्य करने को प्रश्वास नामक विकार कहा जाता है। श्वास रेचक प्राणायाम का विरोधी होता है। प्रश्वास समाधि के अङ्गभूत पूरक प्राणायाम का विरोधी है। दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजय ये तीनों चित्त के स्थिरता का विरोधी है।

वृत्तियों को शांत करने का उपाय

यहाँ तक सूत्रकार ने मन को वृत्तिरहित शान्त करने के लिये दो प्रक्रियाओं का निर्देश किया है। एक प्रक्रिया का नाम है ज्ञानमार्ग – जो अभ्यास और वैराग्य से सम्बद्ध है, जिसकी चर्चा सांख्यशास्त्र में भी विस्तार से की गई है। दूसरी प्रक्रिया है भक्तिमार्ग –

जो कि ईश्वर प्राणिधानाद्वा 1/23 से लेकर 31वें सूत्र पर समाप्त होती है तथा साधन पाद के भी प्रथम व पैंतालीसवें सूत्र में जिसका वर्णन मिलता है। पूर्वसूत्रों में ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर की भक्तिविशेष) के द्वारा व्याधि इत्यादि समस्त अन्तरायों का अभाव हो जाता है ऐसा बताया गया । प्रश्न उठता है कि ज्ञानमार्ग का साधक इन समाधि के प्रतिपक्षभूत व्याधि इत्यादि अन्तरायों का निवारण किस उपाय से करें ? इस प्रश्न का उत्तर अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः 1 / 12 सूत्र के द्वारा कहा गया है। उस पूर्वसूत्र में वर्णित समाधि के प्रतिपक्ष व्याधि इत्यादि अन्तरायों के निवारण के लिये उपाय रूप में अभ्यास के विषय का उपसंहार करते हुये सूत्रकार कहते हैं

विक्षेपों और उपविक्षेपों के निवारणार्थ एकतत्त्व का अभ्यास –

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ।। 1/32।।

उन व्याधि–स्त्यान आदि विक्षेपों तथा दुःख आदि विक्षेपों के निराकरण के लिये एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये । उन विक्षेपों के प्रतिषेध करने के लिये एक तत्त्व परमेश्वर में प्रणिधान स्थापित करने से होता है। चित्त जब एकाग्र होता है तब चिरकाल तक उसी परमेश्वर के अभ्यास में निरत रहता है।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।। 1/29 ।।

सूत्र में जप की प्रक्रिया के द्वारा व्याधि, स्त्यान आदि विक्षेप नष्ट हो जाते हैं तथा यह भी पूर्वसूत्र में स्पष्ट किया जा चुका है कि जब साधक व्याधि, स्त्यान आदि विक्षेपों से पीड़ित होता है, तो प्रायः दुःख, दौर्मनस्य आदि उपविक्षेप भी पैदा हो जाते हैं अर्थात् दुःख आदि उपविक्षेप सभी को प्राप्त हो ऐसा अवश्य नहीं है । चूँकि दुःख आदि उपविक्षेप, व्याधि आदि विक्षेपों के अनुगामी हैं इसलिये जप की प्रक्रिया के द्वारा तो वे भी नष्ट हो ही जायेगें। जप की प्रक्रिया के द्वारा उनके नष्ट होने में किञ्चित्मात्र भी सन्देह नहीं है। जप के द्वारा और उस स्वरूप की भावना करने से जो अन्तराय व्याधि आदि हैं, वे साक्षात् अथवा परम्परया चित्त में विद्यमान चित्त के विक्षेपक योग विरोधी रज और तमो वेग के प्रवर्तक के अभाव रूपी कारणभूत चित्त में विलय होती है। चित्त विक्षेपों के लय होने पर चित्त स्थिर और एकाग्र होकर स्थिति पद को प्राप्त करते हैं। परमेश्वर स्वप्रणिधान से प्रसन्न होकर झटिति प्रत्यक्चेतन की अधिगम होती है, इसलिये स्वात्मस्वरूप के दर्शन सह कृत परमेश्वर स्वरूप का भी दर्शन होता है जिससे मुक्ति की अभिमुखता प्राप्त होती है।

अन्य विधि के द्वारा भी व्याधि–स्त्यान आदि विक्षेपों तथा दुःख, दौर्मनस्य आदि सहविक्षेपों से छुटकारा पाया जा सकता है, किसी भी एक विधि के माध्यम से चित्त को एक विषय वाला बनाने से इनसे मुक्ति पायी जा सकती है । योगदर्शन में अनेक स्थानों पर मन को एकाग्र करने की अनेक विधियाँ बतायी गयी हैं। उनमें से अपने अनुकूल किसी एक विधि का चयन करके अभ्यास किया जा सकता है। जैसे –

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।। 1/33।।

सुखी व्यक्तियों के प्रति मैत्री भाव, दुःखी व्यक्तियों के प्रति करुणा भाव, पुण्यात्मा व्यक्तियों के प्रति प्रसन्नता का भाव तथा पापी व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा भाव रखने से साधक का चित्त शान्त व निर्मल हो जाता है।

अर्थात् – व्यक्ति के अन्तःकरण की तरफ थोड़ा सूक्ष्मता से देखने पर हम पायेंगे कि वह सुखी व्यक्तियों के प्रति ईर्ष्या भाव, दुःखियों के प्रति घृणा भाव, पुण्यात्मा व्यक्तियों के प्रति आलोचना भाव अर्थात् अप्रसन्नता का भाव तथा पापी व्यक्तियों के प्रति निन्दात्मक उत्सुकता या लगावात्मक उत्सुकता रखता है। ईर्ष्या आदि के ये असात्विक भाव उसके मन को सतत तरङ्गायमान रखते हैं और धीरे–धीरे आध्यात्मिकता की दृष्टि से विक्षिप्त–कोटि वाला बना देते हैं, फिर उसे आधा घण्टा चुप होकर बैठने के लिए कहो, तो आधा घण्टा भी चुप होकर बैठना उसके लिए असंभव हो जाता है। महर्षि पतञ्जलि कह रहे हैं कि जो व्यक्ति इस विक्षिप्तावस्था से निकलना चाहता है तथा जो साधना करना चाहता है अर्थात् ध्यान की गहराईयों में उतरकर चेतन आत्मा रूप स्वयं को तथा परमचेतन रूप परमात्मा को जानना चाहता है, उसे सुखी व्यक्तियों के प्रति मैत्री भाव, दुःखी व्यक्तियों के प्रति करुणा–भाव, पुण्यात्मा व्यक्तियों के प्रति प्रसन्नता का भाव तथा पापी व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा – भाव अर्थात् तटस्थ भाव रूप बीज को अपने अन्तःकरण में आरोपित करके, उसे सतत विकसित करना चाहिये। ऐसा करने से ही उसका चित्त शान्त व निर्मल होगा।

महर्षि पतंजलि अगले सूत्र में मन को शान्त व निर्मल बनाने की एक और विधि बता रहे हैं – इन्द्रियों के विषयों को भी विषय बनाकर मन को शान्त व निर्मल बनाया जा सकता है। जैसे –

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ।। 1/35 ।।

रूप–रस आदि इन्द्रिय–विषयों को विषय बनाकर उत्पन्न हुई प्रकृष्ट वृत्ति भी, जो कि मन की स्थिरता को बनाये रखने वाली होती हो, चित्त को शान्त व निर्मल बना देती है।

अर्थात् – मन को स्थिरता प्रदान करने वाली एक अन्य विधि इस सूत्र में बताई गयी है। यह विधि अनुपम है। इस विधि में इन्द्रियों के विषयों को ही इन्द्रियविषयात्मक विचारसरणी से मुक्ति का साधन बना लिया जाता है या यूँ कहिये कि काँटे को निकालने के लिए, काँटे को ही साधन बना लिया जाता है, परन्तु ध्यान रखें कि काँटा निकल जाने के बाद दोनों काँटों को फेंक दिया जाता है। अब विधि के सम्बन्ध में विचार करते हैं। हमारी इन्द्रियों के पाँच विषय हैं – शब्द, रूप, रस, गन्ध व स्पर्श। इन पाँचों विषयों में से किसी भी एक को लेकर हम इस विधि का अभ्यास कर सकते हैं। अभ्यास करने के लिए आपको सर्वप्रथम उपयुक्त विषय का चयन करना होगा। उपयुक्त विषय की कसौटी यही है कि वह मनोवृत्ति को बाँधने वाला हो अर्थात् वह ऐसा हो कि जिसमें हम बह सकें, स्वयं को भूल सकें। जैसे –

1. शब्द – विषय को माध्यम बनाकर अभ्यास – शब्दात्मक विषय में शान्त प्रकृति की अव्यक्त ध्वनियाँ यथा– किसी नदी के बहते पानी की ध्वनि, किसी झरने के गिरते पानी की ध्वनि या हवा के चलने से पैदा हुई ध्वनि, किसी बगीचे में होता पक्षियों का मधुर कलरव आदि इस ध्यान के लिए सर्वोपयुक्त शब्द विषय हैं, प्रकृति में नैसर्गिक रूप से पैदा हुई ध्वनियाँ ही मेरी दृष्टि से सर्वोपयुक्त हैं, जबकि पों–पों, फट्–फट् आदि की ध्वनियाँ तथा देशी–विदेशी किसी भी प्रकार के संगीत से पैदा हुई ध्वनियाँ इस विधि में अभ्यास के लिए उपयुक्त नहीं हैं। क्योंकि वे हमारे मन को विचार करने के लिए प्रेरित नहीं करती।
2. रूप विषय को माध्यम बनाकर अभ्यास – रूपात्मक विषय में कोई भी सुन्दर वृक्ष या मनोहारी पौधा या उस पर खिला हुआ कोई चित्ताकर्षक फूल, बहती नदी,

अन्तहीन नीला आकाश या क्षितिज आदि मेरी दृष्टि में सर्वोपयुक्त विषय हैं क्योंकि ये विचारों को उत्तेजित नहीं करते। जबकि किसी भी स्त्री–पुरुष का चित्र, चाहे वह रानी लक्ष्मीबाई या भगतसिंह का ही क्यों न हो, इस ध्यान – विधि के लिए उपयुक्त नहीं माने जायेंगे क्योंकि ये सब हमारे मन को विचार करने के लिए प्रेरित करते हैं।

3. रस विषय– को माध्यम बनाकर अभ्यास – रसात्मक विषय में पके केले के टुकड़े, गुड़ छोटी–छोटी डलियाँ, मिश्री या किसी मनपसन्द मिठाई के छोटे–छोटे टुकड़े आदि अभ्यास हेतु सर्वोपयुक्त हैं। नमकीन या अन्य कोई चटपटी चीज तथा ऐसी चीजें जो चबाकर खानी पड़ें अभ्यास हेतु बिल्कुल भी उचित नहीं हैं।

4. गन्ध – विषय को माध्यम बनाकर अभ्यास – गन्धात्मक विषय में किसी सुगन्धित पुष्प की सुगन्ध, अग्नि में घृत डालने से पैदा होने वाली सुगन्ध, अग्नि में घृत+गुग्गुलु जलाने से पैदा होने वाली सुगन्ध आदि अभ्यास हेतु सर्वोपयुक्त हैं। मन को खिन्न करने वाली किसी भी प्रकार की गन्ध, केवल कण्डों या लकड़ियों के जलने से पैदा होने वाली गन्ध, किसी भी देशी–विदेशी इत्र की गन्ध आदि अभ्यास हेतु बिल्कुल भी उचित नहीं हैं।

5. स्पर्श – विषय को माध्यम बनाकर अभ्यास – स्पर्शात्मक विषय में कोई मुलायम बिस्तर, मुलायम आराम कुर्सी, मुलायम घास आदि अभ्यास हेतु सर्वोपयुक्त हैं। शरीर को उद्वेलित करने वाला कोई भी कठोर या खुरदुरा स्पर्श अभ्यास हेतु उचित नहीं हैं।

महर्षि पतंजलि मन को शान्त व निर्मल बनाने की अन्य विधि बता रहे हैं –

विशोका वा ज्योतिष्मती ।। 1 / 36।।

शोक से रहित प्रकाश से युक्त प्रवृत्ति भी चित्त को शान्त व निर्मल बना देती है। अर्थात् –कल्पनाशील स्वभाव के व्यक्तियों के लिए, चित्त को रूपान्तरित करने की यह एक अच्छी प्रक्रिया है। अन्य उपाय भी बताते हुए कहा हैं कि – रागरहित योगियों के चित्त का आलम्बन करने वाला साधक का चित्त भी स्थिरता प्राप्त कर लेता है। विशोका अर्थात शोक समाप्त हो गया है जिसमें, इसका तात्पर्य यह होता है जिसमें रज और तम मल जिसमें समाप्त हो गई हो तथाविध प्रवृत्ति को विशोका कहते हैं। यह विशोका दो प्रकार से है बुद्धिसम्वित और अस्मितासम्वित। बुद्धिसम्वित अर्थात बुद्धि का साक्षात्कार। अस्मितासम्वित अर्थात् 'मैं हूं इत्याकारक स्वात्मस्वरूप मात्र का साक्षात्कार'। बुद्धिसाक्षात्कार का क्रम है कि जैसे उदरसोमेध्य प्रदेश में पुण्डरीक नामक एक पद्म अधोमुख अष्ट दल वाले संस्थित हैं, उस पद्म रेचकनाम के द्वारा प्राणायम से उर्ध्व मुख करना चाहिये, सभी उर्ध्व प्रदेशों के प्रान्तभाग में बुद्धि का स्थान विद्यमान है। आत्मा का स्वस्वरूप अहमित्याकारक साक्षात्कार होता है जैसे आत्मा के निवास परब्रह्म के स्थान से ऊपर बुद्धि के स्थान से नीचे स्थान में निवास करके आत्म धारणा को देखते हुये योगी के चित्त को स्थिर स्थिति पद को प्राप्त करता है। इसलिये बुद्धि अहंकार से विमुख होकर आत्ममात्र सम्मुख होते है, आत्मा परमात्मा के संसर्ग होने से आत्मा के प्रकाशित होने से परमात्मा प्रकाशित होता है। यह उभयविध प्रकार के समापत्ति संसिद्धि ज्योतिष्मती ऐसा ख्यापित होता है।

वीतरागविषयम् वा चित्तम् ।। 1/37 ।।

अर्थात् प्रारम्भिक स्तर के योगाभ्यासियों व मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को जानने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए यह सूत्र बहुत कीमती है क्योंकि इस सूत्र में हमें मन के स्वभाव को परिवर्तित करने का एक अचूक उपाय बताया गया है। योगाभ्यासी का लक्ष्य होता है – चित्त को रागरहित बना लेना। महर्षि पतञ्जलि ने यह बात उसी दृष्टिकोण से कही है, लेकिन यह अन्यत्र भी इतनी ही सशक्तता से प्रभावकारी होगी। हमारे आन्तरिक क्रिया – तन्त्र का यह स्वभाव है कि हम अपने मन को जिस प्रकार के भावों से आप्लावित करते हैं, हमारे अन्दर तदनुरूप परिवर्तन घटित होने लगते हैं। चित्त का लगाव–अलगाव के भावों से मुक्त अन्तःकरण की अवस्था को ही वीतरागता कहा जाता है।

महर्षि अगले सूत्र में मन को शान्त व निर्मल बनाने की एक और विधि बता रहे हैं–

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ।। 1/38 ।।

स्वप्न का आलम्बन एवं निद्रा में बोध का आलम्बन भी चित्त को शान्त व निर्मल बना देता है।

अर्थात् – स्वप्न का आलम्बन व निद्रा में स्वयं के साक्षित्व–बोध का आलम्बन, ये दोनों ही मन की शान्ति व निर्मलता की प्राप्ति के अचूक उपाय हैं। वस्तुतः कुछ आध्यात्मिक अनुभव इस प्रकार के हैं कि जिनका क्षणिक स्पर्श भी व्यक्ति के अन्तःकरण में क्रान्तिकारी रूपान्तरण घटित कर देता है। शायद यह कहना सत्य के अधिक निकट होगा कि उन आध्यात्मिक अनुभवों का क्षणिक स्पर्श ही व्यक्ति को आधा योगी बना देता है। ये आध्यात्मिक अनुभव आकस्मिक रूप से स्वतः भी घटित हो सकते हैं, साधना की ध्यान विधियों के माध्यम से योजनाबद्ध तरीके से भी घटित किये जा सकते हैं व गुरु के द्वारा अपनी आध्यात्मिक शक्ति के माध्यम से भी शिष्य में घटित किये जा सकते हैं। गुरु के द्वारा घटित किये गये, इस प्रकार के आध्यात्मिक अनुभवों को ही आध्यात्मिक जगत् में गुरु प्रसाद या गुरु कृपा कहा जाता है। महर्षि पतंजलि यह दो विधियों की चर्चा करते है–पहली विधि में – स्वप्न के आलम्बन के माध्यम से चित्त को शान्त व निर्मल बनाना । दूसरी विधि में –निद्रा में स्वबोध के आलम्बन के माध्यम से चित्त को शान्त व निर्मल बनाना। अगले सूत्र में मन को शान्त व निर्मल बनाने की अवशिष्ट सभी विधियों के लिए कसौटी प्रदान करते हुए उपसंहाररूप में कह रहे हैं

यथाभिमतध्यानाद्वा ।। 1/39 ।।

अन्य किसी अभिमान्य सिद्धान्त के अनुसार किसी अन्य विधि से ध्यान करने से भी चित्त शान्त व निर्मल हो जाता है ।

अर्थात् – चित्त को शान्त व निर्मल बनाने की अनेकों ध्यान–विधियाँ हैं। सभी का वर्णन करना यहाँ संभव नहीं है और न ही प्रासंगिक है इसलिये महर्षि ने अवशिष्ट विधियों के लिए उपसंहाररूप में कसौटी देते हुए प्रकरण को समाप्त कर दिया है। सूत्र में आया "अभिमत शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ है अभिमान्य सिद्धान्त । अभिप्राय यह है कि साधकों को स्वयं के चित्त को शान्त व निर्मल करने के लिए अभिमान्य सिद्धान्त सम्मत ध्यान पद्धतियों से ही अभ्यास करना चाहिये। ऐसे ही किसी भी तरीके से नहीं करने लग जाना चाहिये क्योंकि ध्यान एक ऐसी क्रिया है कि यदि आप इसे ठीक विधि से करते हैं। तो यह आपके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को इतने चरम स्तर तक विकसित कर सकती है कि उस दशा में आपको मनुष्य न कहकर महापुरुष, ज्ञानी, योगी, बुद्धपुरुष या दिव्य पुरुष आदि कहा जाय तो अधिक उचित होगा। इसके दूसरी

और यदि आप ध्यान की क्रिया को गलत विधि से करते हैं, तो यह आपको अत्यधिक अशान्त, कामी, क्रोधी, चिड़चिड़ा व विक्षिप्त सा बना देगी। मैं ऐसे बहुत सारे व्यक्तियों को जानता हूँ, जिन्होंने गलत विधि से ध्यान करके स्वयं के मन व व्यक्तित्व को उलझ पुलझ व विक्षिप्त सा बना लिया है व कुछ तो बिल्कुल ही पागल हो गये हैं। इन सब कारणों से मेरा सभी साधकों से निवेदन है कि ध्यानाभ्यासी से ध्यान की विधि को सीखकर तथा उसके निर्देशन में ही ध्यान का अभ्यास करें और यदि यह सम्भव न हो तो किसी अभिमान्य सिद्धान्त सम्मत ध्यान पद्धति से ही ध्यान करें। मैं यहाँ एक आसान ध्यान पद्धति दे रहा हूँ, जो कि सर्वथा अनुभूत है। साधना में उत्सुकता रखने वाले साधक इसका निर्भय होकर अभ्यास कर सकते हैं।

विधि इस प्रकार है– किसी शान्त स्थान पर यथारुचि शरीर स्थिति में बैठ जायें। कमर को सीधी आदि रखने का कोई पूर्वाग्रह न रखें। यदि आप जमीन पर बैठने के अभ्यासी नहीं हैं, तो कुर्सी पर पैरों को नीचे लटकायी हुई अवस्था में भी बैठ सकते हैं। इसके बाद अपने सामने एक बड़ा–सा शीशा रख लीजिये । शीशा इतना बड़ा हो कि यदि आप नीचे बैठे हैं, तो आप स्वयं के पूरे शरीर को शीशे में स्पष्ट रूप से देख सकें। यदि आप कुर्सी पर बैठे हुए हैं, तो सामने मेज रखकर उस पर शीशा रखें। इसके बाद स्वयं को एकाग्र करते हुए शीशे में पड़ रहे स्वयं के सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब को ध्यान से देखें, बिना किसी विचार के केवल देखें। उसके बाद धीरे–धीरे स्वयं के चेहरे पर केन्द्रित हो जायें। उसी को देखने मात्र में पूरी तरह से तन्मय हो जायें । बीच में जब पलक झपकने की इच्छा हो, तो पलकों को झपक लें। इस प्रकार निर्विचार होकर तन्मयता से स्वयं को देखते रहने से कुछ ही देर बाद आप पायेंगे कि मन में चलता विचारों का प्रवाह मन्द पड़ता जा रहा है। ध्यान रखने की बात है कि विचारों के प्रवाह को मन्द या समाप्त करने के लिए सीधा विचारों के साथ कुछ भी नहीं करना है, यहाँ तक कि उनकी ओर थोड़ा भी ध्यान नहीं देना है। विचारों व विचारों के प्रवाह के प्रति बिल्कुल ही उदासीन रहना है। अपनी सम्पूर्ण एकाग्रता को पूरी तरह से स्वयं को देखने की क्रिया के प्रति उड़ेल देना है। इस प्रकार कुछ दिन तक सतत अभ्यास करते हुए एक दिन आप अचानक पायेंगे कि आपका मन मस्तिष्क विचारों से पूरी तरह से खाली है। विचारों की अराजक भीड़ के स्थान पर अब वहाँ एक प्रकार की तृप्तिदायक शान्ति छायी हुई है। जब मन–मस्तिष्क में इस प्रकार की शान्ति छाने लगे, तब स्वयं के प्रतिबिम्ब के प्रति उदासीन होकर स्वयं को इस शान्ति में डूब जाने दें। अधिक से अधिक देर तक इसी निर्विचार शान्ति में बने रहने का प्रयास करें। निर्विचारता से आविर्भूत हुई यह चित्त – शान्ति ही आपके अन्तःकरण को शान्त व निर्मल बनाती हुई, आपके व्यक्तित्व को चरम – स्तर तक रूपान्तरित करेगी ।

ध्यान की एक अन्य महत्वपूर्ण विधि का संकेत किया जा रहा है जिसका विशेषरूप से व्यवहारकाल में उपयोग लिया जा सकता है – इस ध्यानविधि को हम तटस्थ अवलोकन इस नाम से पहचान सकते हैं। चित्त में जैसे–जैसे ज्ञानात्मक वृत्तियाँ उदय होती हों उनको उसी समय बिना किसी अच्छा या बुरा नाम दिये अवलोकन करते रहें। प्रायः जब वृत्तियाँ उदय होती हैं तब या तो उनके साथ व्यक्ति का तादात्म्य हो जाता है अर्थात् वही हो जाता है – यह चित्त की जागते समय भी परम बेहोशी की अवस्था है। जैसे क्रोध आने पर वही हो जाता है, क्रोध आने पर भी व्यक्ति को यह बोध नहीं रहता कि उसे क्रोध आ रहा है। इसी को हमने कहा बेहोशी कि क्रोध से गुजरते हुए भी क्रोध का भान न रहना। वृत्तियों के उदयकाल में व्यक्ति यदि थोड़ा सजग रहता है, पूरा बेहोश नहीं होता तो दूसरा काम वह यह करता है कि उसे अच्छा या बुरा मानता हुआ उसके समर्थन या असमर्थन में हेतु देने लगता है। किसी भी

चित्तवृत्ति या भाव के उदय होने पर उसके समर्थन या असमर्थन में हेतु न देकर और उसके साथ तादात्म्य भी न करके यदि जो है उसका शान्त अवलोकन किया जाये तो ऐसा करते हुए चित्त में यह एक ध्यान की अद्भुत स्थिति पैदा हो जाती है। एकान्त में ध्यान करते समय भी इस विधि का उपयोग किया जा सकता है तथा व्यवहार काल में काम, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, ईर्ष्या आदि किसी भी भाव के उदय होने पर भी इसी प्रक्रिया का उपयोग लेकर अपने को ध्यान में रखा जा सकता है।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ।। 1/40 ।।

पूर्वोक्त विधियों के माध्यम से स्थिर किये हुए चित्त का परमाणु से लेकर परम महत् पर्यन्त वशीकरण सम्भव हो जाता है ।

अर्थात् – पूर्वोक्त ध्यानाभ्यासों के द्वारा चित्त इतना सक्षम व सामर्थ्यशाली हो जाता है कि साधक उसे परम सूक्ष्म परमाणु से लेकर परम महत् किसी भी सत्तावान् वस्तु पर अभिकेन्द्रित कर सकता है। उपर्युक्त सूत्रों में ध्यान–विधियों की प्रक्रिया को लिखते हुए, ऐसा मैंने सभी जगह स्पष्ट किया है कि एक स्थिति ऐसी आती है कि मस्तिष्क की समस्त अस्त–व्यस्तता, विचारों की समस्त अराजकता खो जाती है और हम स्वयं को एक प्रकार की विक्षिप्तता से मुक्त हुआ–सा महसूस करते हैं। उस समय हम स्वयं को मन–मस्तिष्क व समस्त ज्ञानेन्द्रियों का नियन्ता महसूस करते हैं। इस सूत्र में इस अवस्था तक पहुँच चुके चित्त की सामर्थ्य बतायी गयी है कि उस समय चित्त इतना सामर्थ्यवान् होता है कि सबसे सूक्ष्म पदार्थ से लेकर सबसे स्थूल पदार्थ तक किसी भी पदार्थ में उसे एकाग्र किया जा सकता है तथा तत्सम्बन्धी ज्ञानविशेष को जाना जा सकता है । वस्तुतः यही वह बिन्दु है, जहाँ से यदि साधक पदार्थ को जानने की बाह्य यात्रा पर निकल पड़ता है, तो कालान्तर में उसे हम वैज्ञानिक के रूप में जानते हैं और यदि स्वयं को जानने की इच्छा से अन्तर्यात्रा पर निकल पड़ता है, तो कालान्तर में उसे हम योगी, आत्मज्ञानी आदि के रूप में जानते हैं।

17.3 सारांश

चित्तविक्षेप एवं चित्त के परिकर्म के अर्थ, लक्षण एवं चित्त के प्रयोजन और व्यावहारिक उपादेयता को समझा। चित्त में उत्पन्न हुये विभिन्न, शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक विक्षेपों कैसे शरीर व मन को असन्तुलन की अवस्था में लाकर साधना बाधित करते हैं। चराचर लोक में सुख एवं दुःख की अनुभूति प्रत्येक जीव को होती है। कर्माशय की तीव्रता के कारण किसी को तीव्र दुःखानुभूति होती है तो किसी को मन्द दुःख की अनुभूति होती है। विक्षेप व सहविक्षेप केवल साधारण जनों को भ्रमित नहीं करते बल्कि योगीजनों के जीवन में भी इनका प्रभाव रहता है। अन्तर इतना है कि योगी समझ रखते हुये उन्हें साक्षी भाव से आने और जाने देता है कष्टों को पकड़ के नहीं रखता और न ही कारणों का निर्माण करता है। यदि हमको संसार में सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत करना है तो सदैव उन मनोविकारों को नियन्त्रण में रखना है जो हमारे मानसिक सन्तुलन को नष्ट करते हैं, हमें एकांगी बनाते हैं और हमें पतन की ओर ले जाते हैं। सुख और दुःख संसार में अवश्यम्भावी हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मक है; वृत्तियाँ संसार चक्र में डालेंगी ही। अतः समझ को बनाये रखना ही एकमात्र उपाय है। एवं चित्तशुद्धि के उपायों का सहारा लेकर आगे बढ़ना ही श्रेयस्कर मार्ग है।

ऋषि पतंजलि मर्मज्ञ हैं इसी कारण वे चित्त के गहन तलों तक पहुँच कर वहाँ तक

जाने का रास्ता सुझा रहे हैं। महर्षि ने जिस सटीकता और सरलता से चित्त को समझकर उसके नियन्त्रण के उपाय बाताये हैं वह दूसरा उदाहरण ढूंढना दुष्कर है। आपने अभी तक पढ़ा और जाना कि चित्त शुद्धि साधक के अभ्यास और सतत् प्रयास का ही सुफल है। इसके लिये धैर्य और निरन्तरता अत्यन्त आवश्यक है। जैसा कि महर्षि कहते हैं **'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।।'** 1/12 और **स तु दीर्घकालनैरन्तर्य सत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः।।** 1/14 इन सूत्रों में तो स्पष्ट ही है कि बहुत काल तक निरन्तर और आदरपूर्वक अभ्यास ही वास्तविक स्थिति तक ले जाने का रास्ता है।

17.4 शब्दावली

1. व्याधि — बीमारी
2. आलस्य — शरीर का भारीपन
3. भ्रांति — मिथ्या ज्ञान
4. प्रमाद — योग साधनों का अनुष्ठान न करना
5. दौर्मनस्य — हताश
6. सहभुव — सहभागी
7. तत् — उन
8. मैत्री — मित्रता
9. मुदित — प्रसन्नता
10. विषयवती — रूप–रस आदि विषय वाली
11. मनस — मन की
12. विशोका — शोक से रहित

17.5 बोध/अभ्यास प्रश्न

1. विक्षेप क्या है ?
2. सह विक्षेप क्या है ?
3. अंतर क्या है? स्पष्ट करें ।
4. विक्षेप और सहविक्षेप के निराकरण का उपाय क्या है ?
5. चित्तप्रसादन क्या है ?
6. रागरहित योगियों के चित्त का अवलंबन करने से क्या होता है।

15.6 सन्दर्भग्रन्थ सूची

पातंजल योगसूत्र, व्याख्याकार, श्रीनन्दलाल दशोरा, हरिद्वार रणधीर प्रकाशन १९९७ ।

योगदर्शन, प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या (व्याख्याकार, स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी, मुम्बई, श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट।

योगदर्शन, व्याख्याकार, पं. राजाराम प्रोफेसर लाहौर साहित्य प्रचारक मण्डल, १९२२।

पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्याख्याकार डॉ सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।

पातञ्जल योगदर्शनम् व्याख्याकार श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी विज्ञानाश्रम अजमेर, दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस १६३२ ।

योगतत्त्वांक, कल्याण विशेषांक, गीताप्रेस गोरखपुर, वर्ष १६६६ ।

पातञ्जल योगसूत्र, बंगाली बाबा व्याख्या, हिन्दी अनुवादक कुमारी वृजरानी देवी, पूना एन. आर. भार्गव, १६४८ ।

योगदर्शन समीक्षा लेखक पं श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, वाराणसी, कृष्णदास अकादमी, १६६७

भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व लेखक — एम.हिरियन्ना, अनु प्रकाश नारायण शर्मा, सेन्ट्रल बुक डिपो, १६५४

भारतीय दर्शन की रुपरेखा, लेखक प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, १६७४

भारतीय दर्शन, लेखक आचार्य बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, चौखम्भा ओरियन्टालिया १६७६।

भारतीय दर्शन, लेखक — वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद लोकभारती प्रकाशन २००६।

भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, लेखक — चन्द्रधर शर्मा दिल्ली मोतीलाल बनारसीदास, २०१०।

वेदान्तसार, (बदरीनाथ शुक्ल विरचित हिन्दी व्याख्या एवं रामतीर्थयति विरचित विद्वन्मनोरञ्जनी टीका सहित) सदानन्द. सम्प. बदरीनाथ शुक्ल. वाराणसी मोतीलाल बनारसीदास, १६७६.

सर्वसिद्धान्तसंग्रह, शकराचार्य. सम्प. सूर्यनारायण शुक्ल. वाराणसी काशी विश्वनाथ प्रेस,

सर्वदर्शनसंग्रह, (अभ्यकरवासुदेव शास्त्रि द्वारा दर्शनाञ्कुर व्याख्या सहित) सम्प. वासुदेव शास्त्री अभ्यकर. प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिर, (निर्णयसागर) १६२४.

सांख्यतत्त्वकौमुदी,(गजाननशास्त्री मुसलगांवकर विरचित हिन्दी व्याख्या सहित) वाचस्पति मिश्र. वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, १६६२.

पातञ्जल योगप्रदीप, स्वामी ओमानन्द तीर्थ, गीता प्रेस गोरखपुर गीता प्रेस, गोरखपुर

पातञ्जल योगदर्शनम्, आचार्य उदयवीर शास्त्री (आर्य साहित्य भवन)

मुक्ति के चार सोपन, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती (योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, मुगेर, बिहार)

इकाई 18 चतुर्विध समापत्ति (समाधिपाद, सूत्र 41–47)

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

- पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार चतुर्विध समापत्ति के स्वरूप को जान सकेंगे ।
- विभिन्न शास्त्रों के अनुसार समापत्ति का स्वरूप समझ सकेंगे।
- समापत्ति के व्युत्पत्ति परक एवं निष्पत्ति के अर्थ को समझ सकेंगे।
- समापत्ति के प्रयोजन एवं व्यवहारिक उपादेयता को समझ सकेंगे ।

18.1 प्रस्तावना

चराचर लोक में सुख एवं दुःख की अनुभूति प्रत्येक जीव को होती है। कर्माशय की तीव्र दुःखानुभूति होती है तो किसी को मन्द दुःख की अनुभूति होती है। अनुकूल वेदनीयं सुखम्। प्रतिकूल वेदनीयं दुखम्। यह दुःख तीन प्रकार से है– आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक के भेद से। आध्यात्मिक दुःख शारीरिक और मानसिक के भेद से दो प्रकार का है। शरीर की संरचना वात, पित्त और कफ की अवस्था विशेष होने पर ही होती है, यदि जब वात पित्त और कफ इन तीनों में से किसी एक की भी न्यूनता अथवा अधिकता हो जाये तब शरीर की स्वस्थता कम अथवा समाप्त होने की सम्भावना अत्यधिक होने लगेगी। अतः वात, पित्त और कफ के विषमता से होने वाले दुःख को शारीरिक दुःख कहते हैं। वस्तुतः शरीर के निमित्त समुत्पन्न होने वाले दुःख का नाम शारीरिक दुःख है। मानसिक दुःख काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद आदि विषय के दर्शन के द्वारा होते हैं। मानसिक दुःख का प्रसिद्ध उदाहरण है कि जब किसी न चाहने वाले व्यक्ति यात्रा के समय सम्मुख विराजमान हो जाये, वह व्यक्ति किसी भी प्रकार से वाणी आदि के द्वारा उसको कष्ट नहीं पहुंचाता है किन्तु फिर भी उसको देखकर होने वाला कष्ट मानसिक दुःख है। मानसिक दुःख प्रियवियोग और अप्रियसंयोग से समुत्पन्न होता है। यह दोनों प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख आन्तरिक उपाय से साध्य होने से आध्यात्मिक दुख है।

बाह्य उपाय से समुत्पन्न होने वाला दुख आधिभौतिक और आधिदैविक के भेद से दो प्रकार का है। आधिभौतिक दुःख के अन्तर्गत मनुष्य, पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप और स्थावर के द्वारा समुत्पन्न होता है। आधिदैविक दुःख यक्ष, राक्षस और विनायक आदि देवों से समुत्पन्न होने वाला दुख भी आधिदैविक दुःख के नाम से व्यवहृत होता है। इस प्रकार से तीनों दुःखों के द्वारा अन्तःकरण में विद्यमान चेतना शक्ति के प्रतिकूलतया

वेदनीय होने से उससे होने वाला अभिघात ही दुख है। इन तीनों प्रकार के दुःखों के निवृत्ति के उपाय योगशास्त्र में उपवर्णित किया गया है। इन्हीं दुःखों की निवृत्ति व्यक्त–अव्यक्त और ज्ञ के विशेष ज्ञान से होती है। समाधि के द्वारा इन दुःखों की निवृत्ति सम्भव है। यह समाधि सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात के भेद से दो प्रकार के विद्यमान है।

संसार में प्रत्येक मनुष्य अनन्त ज्ञान एवं शक्ति से युक्त है। आलम्बन के उपस्थित होने पर उसके ज्ञान या शक्ति का दर्शन होता है । प्रत्येक मनुष्य में भिन्न – भिन्न प्रकार की शक्ति निहित है। प्रत्येक मनुष्य की विचारशक्ति अलग – अलग है किन्तु प्रत्येक मनुष्य के जीवन का एकमात्र लक्ष्य है परम पुरुषार्थ की प्राप्ति, मोक्ष की प्राप्ति। इस परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हेतु शास्त्रों में अनेक प्रकार के साधन बताये गये हैं। इन्हीं साधनों में योगविद्या अत्यन्त प्रसिद्ध है। योग चित्तवृत्तियों के निरोध की बात करता है चित्तवृत्तियों के निरोध के अनन्तर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। मोक्ष से पूर्व की स्थिति समाधि होती है। समाधि भी मुख्यरूप से दो प्रकार की होती है – सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि। सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में साधक का चित्त सभी प्रकार के सांसारिक विषयों में दोष निकालकर उनमें वैराग्य करने लगता है। सांसारिक विषयों में वैराग्य उत्पन्न होने पर साधक का चित्त एकाग्र हो जाता है यह अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है। इस समाधि की भी चार अवस्थायें होती हैं – वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता। इन सभी समाधियों के आधार पर ही समापत्ति भी मुख्यरूप से चार प्रकार की हो जाती है – सवितर्क समापत्ति, निर्वितर्क समापत्ति, सविचार समापत्ति एवं निर्विचार समापत्ति। इन्हीं चतुर्विध समापत्तियों का विवेचन इस इकाई में किया जायेगा।

18.2 समापत्ति का अर्थ, लक्षण एवं स्वरूप

(सम् + आ + पद् गतौ + क्तिन्) सम् और आ उपसर्ग पूर्वक पद, गतौ धातु में क्तिन् प्रत्यय लगने पर समापत्ति शब्द बना है जिसका अर्थ है – सम्–अच्छी प्रकार से आ = सब ओर से पत्ति – प्राप्ति होना अर्थ है ।

जिस योग साधक की रजस, तमस वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं, ऐसे स्वच्छ, निर्मल, निर्दोष, मणि सदृश चित्त का ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य के स्वरूप में स्थिर होकर उसी रूप आकार वाला प्रतीत होना समापत्ति कहलाती है। समापत्ति और सम्प्रज्ञात समाधि को पर्यायवाची समझना चाहिए। समापत्ति का लक्षण एवं स्वरूप की चर्चा करते हुए महर्षि पंतजलि कहते हैं –

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः। (योगसूत्र 1/41)

अर्थात् ध्यान आदि साधनाओं का अभ्यास करते – करते जब साधक का चित्त स्वच्छ स्फटीक मणि की भाँति अति निर्मल हो जाता है तथा जब उसकी ध्येय विषय के अतिरिक्त बाह्य वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं उस समय साधक ग्रहीता (पुरुष) ग्रहण (अन्तःकरण इन्द्रियाँ) तथा ग्राह्य (पंचभूत आदि इन्द्रिय विषय), इनमें जिस किसी पर भी ध्येय का बनाकर उसमें अपने चित्त को लगाता है तो वह चित्त उस ध्येय वस्तु में स्थित हो तदाकार हो जाती है – (तदस्थतदञ्जनता)। इसी को सम्प्रज्ञात समाधि (समापत्ति) कहते हैं । समाधि की इस अवस्था में साधक को ध्येय वस्तु के स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है उसके विषय में किसी प्रकार का संशय या भ्रम नहीं रहता।

जैसे निर्मल स्फटिक मणि के समीपवर्ति जपा कुसुम (लाल फूल विशेष) आदि के रूप के सदृश मणि की भी प्रतीति होने लगती है। उसी प्रकार से अभ्यास और वैराग्य के द्वारा अथवा अन्य उपायों द्वारा राजसिक और तामसिक वृत्तियों के क्षीण होने के अनन्तर स्वच्छभाव को प्राप्त चित्त का ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य पदार्थों में एकाग्रता होने के अनन्तर अथवा पौनःपुन्य अभ्यास के द्वारा तत्स्वरूपता को प्राप्त करना समापत्ति और परिणामता है। सूत्र में प्रयुक्त शब्द क्रम ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य को अर्थक्रम के अनुरोध से ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता इस क्रम से अन्वय करना चाहिये। समापत्ति अवस्था में ध्यान का विषय क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म की ओर होता है स्थूल पदार्थों के साक्षात्कार एवं उनके स्वरूप को जानने के बाद क्रमश विषयों का साक्षात्कार करने, उनके स्वरूप को जानने में समर्थ होता जाता है। सर्वप्रथम स्थूल ग्राह्य पदार्थों में घट पटादि में प्रेरित करने वाला चित्त तदुपरक्त तत्समानाकार परिणत होकर उसी पर एकाग्र होता है। परम महत् भूतों हिरण्यमय कोश पर्यन्त ग्राह्य पदार्थों में प्रेर्यमाण चित्त तदुपरक्त तत्समानाकार परिणत होकर परम महत् में एकाग्र होता है। सूक्ष्म पदार्थों में द्यणुक और परमाणु में ग्राह्यविषयों में प्रेरित करने वाला चित्त तदाकार होकर सूक्ष्म पदार्थों के एकाग्र हो जाता है। इन्ही स्थूल सूक्ष्म ध्येय विषयों की भिन्नता के आधार पर समापत्ति अवस्था चार प्रकार की बताई गई है।

समापत्ति के प्रकार

'वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः।' (योगसूत्र 1 / 17)

१. सवितर्क समापत्ति / वितर्कानुगत

२. निर्वितर्क समापत्ति / विचारानुगत

३. सविचार समापत्ति / आनंदानुगत

४. निर्विचार समापत्ति / अस्मितनुगत

वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार से है, सवितर्क और निर्वितर्क। विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि सविचार और निर्विचार के भेद से दो प्रकार का है। आनन्दानुगत और अस्मितानुगत के अवान्तर भेद नहीं है।

१. सवितर्क समापत्ति / वितर्कानुगत का वह रूप है जिसमें ध्यान का आलम्बन या विचार अर्थात् ध्येय विषय स्थूल पदार्थ होते हैं, जैसे सूर्य,पर्वत, नदी, मूर्ति आदि ।

व्यास भाष्य के अनुसार – **वितर्कः चित्तस्याऽऽलम्बने स्थूल आ भोगः ।**

इस समाधि में योगी विश्व ब्रहमाण्ड के स्थूल पदार्थो– सौरमण्डल, तारामण्डल, ग्रह, उपग्रह आदि दूरस्थ पिण्डों के स्वरूप को जानने में समर्थ हो जाता है। शब्द अर्थ और ज्ञान के विकल्प की दृष्टि से इस समाधि के दो प्रकार हैं। 1.सवितर्क समाधि और 2. निर्वितर्क समाधि ।

'तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।' (योगसूत्र 1 / 42)

सवितर्क समापत्ति में जब तक शब्द अर्थ और ज्ञान का विकल्प वर्तमान रहता है अर्थात् योगी के चित्त में ध्येय स्थूल विषय भी अनुभव रहता है, तब तक वह सवितर्क समापत्ति कहलाती है ।

अर्थात् समापत्ति और सम्प्रज्ञात समाधि को पर्यायवाची समझना चाहिये । ध्येयविषयक प्रगाढ़तम एकाग्रावस्था को समाधि कहते हैं। उस अवस्था में हमें ध्येय वस्तुस्वरूप विषयक विशेष बोध होता है। सम्प्रज्ञात शब्द से भी यही ध्वनित होता है। सम्प्रज्ञात

शब्द का अर्थ है– ध्येयविषयः सम्यक् प्रकारेण ज्ञायते यत्र स सम्प्रज्ञातः अर्थात् समाधि की जिस अवस्था में ध्येय के स्वरूप को सम्यक्तया जाना जाय, वह अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। सुबोधता हेतु सम्प्रज्ञात समाधि को भी निम्न – उच्च अवस्थाओं के आधार पर चार भागों में विभाजित किया गया है। इस सूत्र में सम्प्रज्ञात समाधि की निम्नतम अवस्था का वर्णन किया गया है और उसे सवितर्का समापत्ति नाम दिया गया है। इस अवस्था में ध्येयपदार्थ तदर्थ प्रयुज्यमान शब्द और तदविषयक ज्ञान से मिश्रित भासता है। यह हम सभी जानते हैं कि शब्द, अर्थ तथा ज्ञान ये तीनों पृथक् – पृथक् सत्ता वाले हैं।

1. शब्द – जो जिह्वा के द्वारा उच्चारित होता है तथा कानों के द्वारा ग्रहण किया जाता है वह शब्द कहलाता है । यथा – गाय यह एक शब्द है।

2. अर्थ – वह पदार्थ विशेष, जिसका बोध कराने के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है, अर्थ कहलाता है, यथा – चार पैर, दो सींग आदि से युक्त जो पशु गोशाला में देखा जाता है तथा जिसके लिए गाय शब्द का प्रयोग होता है ।

3. ज्ञान – शब्द को सुनने के बाद मन में जागृत होने वाला अर्थस्वरूपविषयक आभास ज्ञान कहलाता है यथा – गाय शब्द को सुनने के बाद मन में जागृत होने वाला तदर्थस्वरूपविषयक आभास – अनुभूति । ये तीनों सर्वथा पृथक् – पृथक् सत्ता वाले हैं, लेकिन निरन्तर अभ्यास के कारण मिले–जुले प्रतीत होते हैं। सवितर्का समापत्ति की अवस्था में भी तीनों की मिली–जुली प्रतीति होती है। उदाहरण के लिए गाय को विषय बनाकर चित्त को एकाग्र करने पर चतुष्पदी पशु की प्रतीति जब गाय यह शब्द तथा तद्विषयक ज्ञान से मिश्रित अवस्था में हो तो वह सवितर्का समापत्ति कहलाती है। वस्तुतः यह समाधि की सबसे निम्नतम अवस्था है, लेकिन शिखर पर भी सीढ़ी–दर–सीढ़ी ही पहुँचा जाता है इसलिये यहाँ तक पहुँच जाना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

सभी जगह लौकिक और अलौकिक उभय विध पदार्थ के व्यवहार में सबसे पहले संकेत ज्ञान वाले पुरूष घट अर्थ का अवलम्बन कर के "घट" इत्याकारक वाचक शब्द का प्रयोग करता है जिससे घटत्व प्रकारक और घट विशेष्यक शाब्दबोध की उत्पत्ति होती है। इस शाब्दबोध के अनन्तर कम्बुग्रीवा वाले पृथुदर जलहरण योग्य घट पदार्थ विशेष का बोध मध्यस्थ को होता है। इस प्रकार घट यह शब्द, घटत्व प्रकारक और घट विशेष्यक शाब्दबोध और कम्बुग्रीवा वाले पृथुदर जलहरण योग्य घट वस्तु इन तीनों का परस्पर में अविनाभाव सम्बन्ध है। अविनाभाव का अर्थ व्याप्ति से नहीं होकर संकेत से है। यह संकेत इतरेतराध्यासात्मक है। यह तीनों पदार्थ वस्तुतः स्वतन्त्र और भिन्न–भिन्न स्वस्वधर्म के रूप में विद्यमान है, जैसे शब्दत्व तारत्व और मन्दत्वादि शब्दधर्म भिन्न–भिन्न होकर विद्यमान है। प्रकाशत्व, ज्ञानत्वादि शाब्दबोधधर्म भी भिन्न–भिन्न ही है। भिन्न–भिन्न संकीर्णतया पदार्थों का अभेद रूप से अवधारण करना संकीर्ण सवितर्का समापत्ति समाधि है। कदाचित् घट इस शब्द के साथ शाब्दबोध का अभेदतया अवधारण होता है और कहीं घट इस पदार्थ के साथ शब्द और शाब्दबोध का अभेदतया अवधारण होता है। कहीं कहीं शब्द और शाब्दबोध इन दोनों का ही अभेदतया अवधारण होता है। सविचारा सम्प्रज्ञात समापत्ति स्थूलविषयों का ही होता है। स्थूल अर्थ वाचक शब्दों के प्रयोग के द्वारा प्रवृत्त होता है। शब्द भी स्थूल होते हैं, शाब्दबोधात्मक और अनुमानात्मक वृत्ति भी स्थूल होते हैं।

२. निर्वितर्क समापत्ति / विचारानुगत

जब इनका विकल्प नहीं रहता तो समाधि की वह अवस्था निर्वितर्क समापत्ति कहलाती है।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। (योगसूत्र 1/43)

शब्द – संकेत जन्य स्मृति के पूरी तरह से निवृत्त हो जाने पर अपने ग्रहणरूप से शून्य हुई सी केवल अर्थमात्र का बोध कराने वाली चित्त की वृत्त्यात्मक स्थिति निर्वितर्का समापत्ति कहलाती है। अर्थात् हम सभी को होने वाला किसी भी पदार्थ का बोध, पदार्थ विषयक शब्द, पदार्थ के विषय में सुने हुए तथ्यों तथा अन्य बहुत सारे आनुमानिक तथ्यों से सम्मिश्रित रहता है। समापत्ति की पूर्वावस्थाओं में भी ऐसा ही होता रहता है। इस सूत्र में बताया जा रहा है कि समापत्ति की जिस अवस्था में अर्थबोध के साथ संयुक्त यह शब्द आदि जन्य स्मृति पूरी तरह निवृत्त हो जाये और केवल अर्थमात्र का बोध होने लगे, वह अवस्था योगदर्शन की भाषा में निर्वितर्का समापत्ति कहलाती है । सवितर्क समाधि को सविकल्पक समाधि तथा निर्वितर्क समाधि को निर्विकल्पक समाधि भी कहते है क्योंकि इसमें सभी प्रकार के विकल्पों का अभाव हो जाता है। सूत्र में प्राप्त अर्थ पद का तात्पर्य 'लक्ष्य' है, अर्थ शब्द शाब्दबोध और अनुमान इन दोनों में से किसी एक का अर्थ बोध कराते हैं, यह जहां भासित होता है वह लक्ष्य मात्र का आलम्बन करने वाला है। शुन्य विकल्प से रहित होकर जहां स्वरूप शून्य होकर विकल्प से अभिन्न हो जाता है। इव का अर्थ सादृश्य है। जैसे सानन्द और सास्मिता सम्प्रज्ञात में एक मात्र पदार्थ का आलम्बन करे वैसे ही यहां भी भेद स्थूल वस्तुओं के कारण ही है। जहां घटादि शब्दोच्चारण के अनन्तर शाब्दबोध और अर्थ की उपस्थिति होती है, इस अवस्था में कारण संकेत के द्वारा तीनों का बोध होने के अनन्तर संकेत का परित्याग करके केवल स्थूलशब्द के ऊपर चित्त का धारण करना केवल शब्द विषयीणी होने से संकेत का भी परित्याग करती है, उसके अधीन बोधित होने वाले वस्तु का भी वियोग होता है। यह संकेत से युक्त संकीर्णता रहित होने के कारण परिशुद्धा समापत्ति है।

३. सविचार समापत्ति / आनंदानुगत

४. निर्विचार समापत्ति / अस्मितनुगत

एतयैव सविचारा निर्विचारा चे सूक्ष्मविषया व्याख्याता। (योग सूत्र 1/44)

सविचार समापत्ति – इसमें ध्यान का आधार सूक्ष्म विषय जैसे तन्मात्रा आदि होते हैं यह भी सविचार और निर्विचार दो प्रकार का होता है। जब तक इस समाधि में शब्द अर्थ और ज्ञान का विकल्प रहता है तब तक वह सविचार समाधि तथा जब इनका विकल्प नहीं रहता, तब वही निर्विचार समाधि कही जाती हैं। सविचार और निर्विचार समापत्ति भी सबीज समाधि के अंतर्गत आती है।

सवितर्क और निर्वितर्क रूप से स्थूलविषयक समापत्ति और सूक्ष्मविषय भी सविचार और निर्विचार रूपा लक्ष्यपदार्था के अभेद अध्यासाय और अनाध्यास साम्यता होती है। परमाणु विषयिणी सविचार का उदाहरण है– 'परमाणु यह सूक्ष्म शब्द है, इस शब्द के द्वारा परमाणु विषयक शाब्दबोध है और विषय भी परमाणु ही है। यह तीनों ही योगियों के द्वारा योगाभ्यास धर्म सामर्थ्य द्वारा प्रत्यक्ष होता है। तीनों तत्त्वों के स्वभावतः परस्पर भिन्न–भिन्न होने पर भी परमाणु सूक्ष्म शब्द के द्वारा संकेत है, यह संकीर्ण है। इसलिये इतरेतर अध्यासात्मक प्रभाव के द्वारा तीनों के भी वास्तविक रूप से भिन्न– भिन्न का अभेद का अध्यास के द्वार जो ग्रहण होता है वह संकीर्ण सविचार समापत्ति है।

विचारानुगत सम्प्रज्ञात का सूक्ष्मपदार्थ ही विषय होते हैं, सूक्ष्म पदार्थ से तात्पर्य लिङ्ग अर्थात प्रकृति पर्यन्त होता है।[1] जैसे स्थूल त्रसरेणु के अपेक्षा द्यणुक सूक्ष्म है, द्यणुक के भी अपेक्षया परमाणु सूक्ष्म है और परमाणु के अपेक्षया तन्मात्रायें और इन्द्रियां सूक्ष्म है, इन्द्रिय और तन्मात्राओं के अपेक्षा मन सूक्ष्म है, मन के अपेक्षा अहंकार सूक्ष्म है, अहंकार के अपेक्षा अहंकार के कारणभूत महत् अर्थात् बुद्धि तत्त्व सूक्ष्म है। महत तत्त्व का कारण मूलप्रकृति है, यह मूल प्रकृति महत् तत्त्व के अपेक्षा सूक्ष्म है। इस प्रकार से अणुकादि प्रभृति से प्रकृति पर्यन्त सूक्ष्म विषय है। यद्यपि प्रकृति के अपेक्षा पुरूष सूक्ष्म है, पुरूष के अपेक्षा परमेश्वर सूक्ष्मतम् है फिर भी उसकी गणना नहीं किया है इसलिये परम सूक्ष्मता की पराकाष्ठा मूल प्रकृति ही है। वस्तुतः आत्मस्वरूप का भी योगियों को धारणादि के द्वारा ग्राह्य होता है, पुरूष सूक्ष्म स्वरूप हो सकता है। सूक्ष्मस्वरूप होने से यह अदृश्य रहता है। इसलिये परम–महान– आत्मा ऐसा कहने पर कोई विरोध नहीं होगा। इसी प्रकार से परमेश्वर भी योगि को स्वात्मदर्शन के अनन्तर अन्तर्यामी होने के कारण दिव्यस्वरूप को देखने में समर्थ होता है इसलिये पुरूष के अपेक्षा परमेश्वर सूक्ष्मतर है। सूक्ष्मतरता कहने का तात्पर्य यह है कि स्वात्मा स्वरूप के अपेक्षा अदृश्य स्वरूप होने से अन्तर्यामी है जिससे स्वसिद्धान्त के विरोध होने की आपत्ति प्रसक्त नहीं होगी। स्थूल और सूक्ष्म विषयों का जो स्वरूप होगा वही स्वाकार के द्वार चित्त को परिणत करता है, विषयोपरक्त चित्त वहां स्थिरीभूत होता है। स्थूल सूक्ष्म के आलम्बन करने पर चित्त के जितने भी छब्बीस विषय पदार्थ है उनके आकार में परिणति चित्त में हो जाये। इसको अन्य प्रकार से भी समझ सकते है कि जैसे पृथिवी के परमाणु अनेक धर्मों से व्याप्त होकर रहते है और उसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये सब परमाणु के धर्म रहते हैं। पृथिवी परमाणु को शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तन्मात्राओं के द्वारा उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार से घटादि भी परमाणुओं में रहने वाले परमाणु धर्म परमाणुओं के तादात्म्य होने से परमाणुओं से समुत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार से संख्या, परिमाण, संयोग और परत्वादि भी अन्य धर्म को समझ लेना चाहिये। परमाणु के किसी भी घटादि प्रदेश में स्थित होने से प्रदेशावच्छिन्नत्व रूप परमाणुधर्म है। उसी प्रकार से किसी न किसी वर्तमान काल में विद्यमान होने से वर्तमान तत्व अवच्छिन्न भी परमाणु धर्म है। इस प्रकार से विविध धर्म परमाणु से भिन्न परमाणु में रहते है। इन सबका अभिन्नरूप से ग्रहण अर्थात इतरेतर अध्यास होना ही संकीर्ण सविचार समापत्ति है। इसी प्रकार से जल परमाणु आदि का समझना चाहिये।

'ता एव सबीजः समाधिः।' (योगसूत्र 1/46)

निर्विचार समपत्ति निर्विकल्प होने पर भी निर्बीज नहीं हैं, यह सबीज समाधि ही है क्योंकि इनमें बीज रूप से किसी न किसी ध्येय पदार्थ का अस्तित्व ध्येय वृत्ति के रूप में रहता है। इन समाधियों में चित्त में ध्येय वृत्ति मौजूद रहती है इसलिए चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध अभी नहीं हुआ होता है। जिस कारण सम्प्रज्ञात समाधि या सबीज समाधि से पुरुष को कैवल्य की प्राप्ति अभी नहीं हो पाती। योगी साधक का चित्त जैसे–जैसे निर्मल होता जाता है चित के अंदर की वृत्तियाँ क्षीण होती जाती हैं वैसे–वैसे वह समाधि की और अधिक उच्च अवस्था मे प्रवेश करता है।

सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार ये चारों समाधि सबीज सम्प्रज्ञात समाधि है। स्थूल–सूक्ष्मविषयों में धारणा के द्वारा चित्त के स्थिर होने पर प्रमाणादि वृत्ति के अनुद्भव होने से अविद्या आदि क्लेश प्रादुर्भूत नहीं होते हैं किन्तु स्वकारण चित्त के वृत्ति में तिरोहित हो जाते है इसलिये बीजभाव में विद्यमान होने से इस समाधि को

---

[1] सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्। योगसूत्र १/४५

सबीज समाधि कहते हैं। सबीज समाधि सम्प्रज्ञात समाधि ही होती है। अथवा आत्मा और परमात्मा का परित्याग करके अन्य सुख, दुःख और मोहात्मक स्थूल और सूक्ष्म विषयों में चित्त को धारण करने से सुख, दुःख और मोहात्मक संस्कार उत्पन्न होते हैं। उन संस्कारों से क्लेशादि बीज भाव में पुष्ट रहते हैं न कि अङ्कुर रुप में परिणत होकर दुःखादि को उत्पन्न करते है। समाधि धर्म उसका प्रतिबन्ध होता है, इसलिये ये बीज भाव में विद्यमान रहते हैं। किन्तु जो बीजभाव में अवतिष्ठ रहते है अतः इसको सर्वबीजसमाधि कहते हैं।

इस प्रकार से यह सम्प्रज्ञात योग छह प्रकार से विभक्त होता है। सवितर्क, निर्वितक, सविचार, निर्विचार, सानन्द और सास्मिता के भेद से ही यह छह प्रकार का है। जब स्थूल विषयों को विषय बनाया जाये तब सवितर्क और निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि होती है। ग्रहण– सूक्ष्म इन्द्रियादिविषय समाधि सविचार और निर्विचार होता है। अहंकार गत आनन्दमात्र को विषय करने वाले सानन्द समाधि है। बुद्धि और चेतन स्वरूप इन दोनों के एकात्म्य मात्र विषयक सास्मिता है। इनमें से चारों ही सबीज है अन्य दो सबीज नहीं है। यद्यपि सानन्द और सास्मिता काल में भी क्लेशादि के बीजरूपता की सम्भावना विद्यमान है। किन्तु निर्विचारपर्यन्त जो क्लेशादि है वे बीजभाव में परिणत रहते हैं। निर्विचार के होने से ही तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है, तत्त्वज्ञानाग्नि के द्वारा सानन्द नामक समाधि के समापत्ति काल में क्लेशादि के बीजभाव भी दग्ध होने लगते है इसी प्रकार से सास्मिता काल में भी दाह प्रवाह अविच्छिन्न रहता है, तदनन्तर विवेकख्याति समुत्पन्न होती है। विवेक ख्याति के होने से चित्तवृत्ति के बीजभाव को भी दग्ध किया जाता है जिससे असम्प्रज्ञात समाधि समुत्पन्न होती है। इसलिये विरोधि के द्वारा ज्ञानाग्नि के द्वारा समाप्त करते समय में क्लेशबीज के होने पर भी इसकी सबीजता युक्ति युक्त नहीं है, इसलिये उन चारों को सबीज स्वीकार किया गया है।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। (योगसूत्र 1/47)

निर्विचार – समापत्ति में वैशारद्य – अवस्था उत्पन्न हो जाने पर, योगी को अध्यात्मप्रसाद प्राप्त होता है, अर्थात् – निर्विचार–समापत्ति की सिद्धि होने पर अध्यात्मप्रसाद प्राप्त होता है। जिसके कारण सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि प्राप्त होती है । उपरोक्त सवितर्का आदि समापत्तियों में निर्विचारा समापत्ति सबसे उच्चतम अवस्था है। इस निर्विचारा समापत्ति की भी निम्न, उच्च व उच्चतम अवस्थाएँ हैं। अध्यात्म–प्रसाद एक प्रकार की विवेक की उच्चतम उपलब्धि है, जो कि निर्विचारा समापत्ति की उच्चतम अवस्था में प्राप्त होती है। सत्त्वगुण का परमस्वच्छ व अति स्थिर प्रवाह वैशारद्य कहा जाता है। यह निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था में घटित होता है। निर्विचार – समापत्ति में इस वैशारद्य – अवस्था के उत्पन्न हो जाने पर, योगी को मूल प्रकृति पर्यन्त समस्त पदार्थों का युगपत् व यथार्थ – बोध कराने वाला एक प्रकार का प्रज्ञा – आलोक प्राप्त होता है। इस प्रज्ञा – आलोक को ही यहाँ अध्यात्म–प्रसाद कहा गया है। शाब्दिक दृष्टि से अध्यात्म–प्रसाद शब्द का अर्थ होगा– बुद्धि की परम निर्मल अवस्था । प्रज्ञा – आलोक के लिए प्रज्ञा–प्रसाद शब्द भी शास्त्रों में देखने को मिलता है। शाब्दिक दृष्टि से प्रज्ञा प्रसाद शब्द का अर्थ होगा – बुद्धि का उच्चतम शिखर। सवितर्का आदि समापत्तियों में निर्विचारा समापत्ति सबसे उच्चतम अवस्था है। इस निर्विचारा समापत्ति की भी निम्न, उच्च व उच्चतम अवस्थाएँ हैं। अध्यात्म–प्रसाद एक प्रकार की विवेक की उच्चतम उपलब्धि है, जो कि निर्विचारा समापत्ति की उच्चतम अवस्था में प्राप्त होती है। सत्त्वगुण का परमस्वच्छ व अति स्थिर प्रवाह वैशारद्य कहा जाता है। यह निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था में घटित

होता है। निर्विचार – समापत्ति में इस वैशारद्य– अवस्था के उत्पन्न हो जाने पर, योगी को मूल प्रकृति पर्यन्त समस्त पदार्थों का युगपत् व यथार्थ – बोध कराने वाला एक प्रकार का प्रज्ञा–आलोक प्राप्त होता है। इस प्रज्ञा – आलोक को ही यहाँ अध्यात्म–प्रसाद कहा गया है।

निर्विचार समापत्ति के वैशारद्य का नाम रज और तम के समुत्पादक पाप आदि लक्षण मलरहित का प्रकाश स्वभाव का बुद्धि सत्त्व के स्वच्छ ध्येयगत अशेष विशेष प्रतिबिम्ब के उद्ग्राही स्थिति के एकाग्रता की प्रवाह रहता है। उसमें शुद्ध तत्त्वज्ञान का प्रादुर्भाव होता है जिससे प्रकृति से समुत्पन्न समस्त पदार्थों में सुख, दुःख और मोहात्मक पदार्थों में घृणा दृष्टि समुत्पन्न हो जाती है। उससे मायामय पदार्थों को परित्याग करके केवल आनन्द मात्र को प्राप्त करने के लिये यत्न सम्प्रदान योग के कारण करते हैं। तत्त्वज्ञान के द्वारा बुद्धिधर्मात्मक आनन्दमात्र में घृणादृष्टि होने से तत्त्वज्ञान का भी परित्याग करके नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाले स्वात्मा के प्रति चित्त के प्रवाह अस्मितायोगात्मक होता है तब क्लेश से युक्त माया के द्वारा समुत्पन्न बुद्ध्यादि पदार्थों का अवलम्बन के द्वारा आहित चित्त का चेतन स्वरूप आकार मात्र विशद प्रज्ञालोक होता है, यह ही स्वात्मविषयक प्रसाद है।

18.3 सारांश

भारतीय ज्ञान परम्परा में योग अत्यन्त व्यावहारिक एवं प्रसिद्ध है। योग को सूत्ररूप में निबद्ध कर मौलिक एवं विस्तृत रूप देने वाले महर्षि पतञ्जलि ने शास्त्र का प्रारम्भ युक्तियुक्तपूर्वक पारम्परिक दृष्टिकोण से ही किया है। योग का अभ्यास करते–करते जिस साधक की रजस, तमस वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं ऐसे स्वच्छ, निर्मल, निर्दोष, मणि सदृश चित्त का ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य के स्वरूप में स्थिर उसी के रूप का अवलंबन करता है। जिसके बाद शब्द, अर्थ, ज्ञान तीनों पृथक् – पृथक् सत्ता वाले सवितर्क समापत्ति की अवस्था में भी तीनों की मिली जुली प्रतीति होती है । समापत्ति को चार अवस्थाओं में विभक्त किया है। वस्तुतः यह समाधि की सबसे निम्नतम अवस्था है ।

18.4 शब्दावली

योग – प्राचीन साधना पद्धति

अनुशासन – नियमयुक्त आचरण

चित्त – मन, बुद्धि और अहंकार

वृत्ति – चित्त के व्यापार

विवेक ख्याति – प्रकृति पुरुष का विवेच्य ज्ञान

चित्त – बुद्धि, अहंकार एवं मन का समाहार रूप

चित्तवृत्ति – चित्त का व्यापार (चित्त द्वारा गृहीत किये गये विषयों का ज्ञान)

दर्शन – त्रिविध दुःखों के अत्यन्त नाश हेतु पथ प्रदर्शित कराने

दुःख – इच्छा के विपरीत विषय का अनुभव

दुःखनिवृत्ति – दुःख के हेतुओं का नाश

पुरुषार्थ – धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष

मोक्ष	–	मृत्युलोक के आवागमन से मुक्ति, परमात्मा का सानिध्य, परमपद की प्राप्ति, परमानन्द का अनुभव
गृहीता	–	पुरुष
ग्रहण	–	अंतःकरण / इंद्रिया
ग्राह्य	–	पञ्च महाभूत/सांसारिक एवं आध्यात्मिक विषय वस्तु
समापति	–	एकीकरण / एकात्म / समाधि आदि ।
तत्र	–	वहां, पूर्व सूत्रलक्षित
संकीर्णा	–	मिश्रित
शुद्धौ	–	शुद्ध हो जाना
एतयैव	–	इससे ही

18.5 बोध / अभ्यास प्रश्न

1. समापत्ति के कितने प्रकार है?
2. समापत्ति का पर्यायवाची क्या है?
3. सविचार समापत्ति में ध्यान का आधार क्या है?
4. निर्विचार–समापत्ति की सिद्धि होने पर क्या प्राप्त होता है?
5. जब समाधि में शब्द अर्थ और ज्ञान का कोई विकल्प नहीं रहता तब उसे क्या कहेगे?
6. अध्यात्म प्रसाद क्या है ?
7. ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्या क्या है ?

18.6 संदर्भ ग्रंथ

पातंजल योगसूत्र, व्याख्याकार, श्रीनन्दलाल दशोरा, हरिद्वार रणधीर प्रकाशन १६६७ ।

योगदर्शन, प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या (व्याख्याकार, स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी, मुम्बई, श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट।

योगदर्शन, व्याख्याकार, पं. राजाराम प्रोफेसर लाहौर साहित्य प्रचारक मण्डल, १६२२।

पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्याख्याकार डॉ सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।

पातञ्जल योगदर्शनम्, व्याख्याकार श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य, श्री स्वामी विज्ञानाश्रम अजमेर, दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस १६३२ ।

योगतत्त्वांक, कल्याण विशेषांक, गीताप्रेस गोरखपुर, वर्ष १६६६ ।

पातञ्जल योगसूत्र) बंगाली बाबा व्याख्या हिन्दी अनुवादक कुमारी वृजरानी देवी, पूना एन. आर. भार्गव, १६४८ ।

योगदर्शन समीक्षा लेखक पं श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, वाराणसी, कृष्णदास अकादमी, १६६७

भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व, लेखक – एम.हिरियन्ना, अनुप्रकाश नारायण शर्मा, सेन्ट्रल

बुक डिपो, १६५४

भारतीय दर्शन की रुपरेखा, लेखक प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, १६७४

भारतीय दर्शन, लेखक आचार्य बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, चौखम्भा ओरियन्टालिया १६७६।

भारतीय दर्शन, लेखक – वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद लोकभारती प्रकाशन २००६।

भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, लेखक – चन्द्रधर शर्मा दिल्ली मोतीलाल बनारसीदास, २०१०।

वेदान्तसार, (बदरीनाथ शुक्ल विरचित हिन्दी व्याख्या एवं रामतीर्थयति विरचित विद्वन्मनोरञ्जनी टीका सहित) सदानन्द. सम्प. बदरीनाथ शुक्ल. वाराणसी मोतीलाल बनारसीदास, १६७६.

सर्वसिद्धान्तसंग्रह, शकराचार्य. सम्प. सूर्यनारायण शुक्ल. वाराणसी काशी विश्वनाथ प्रेस,

सर्वदर्शनसंग्रह, (अभ्यकरवासुदेव शास्त्रि द्वारा दर्शना्कुर व्याख्या सहित) सम्प. वासुदेव शास्त्री अभ्यकर. प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिर, (निर्णयसागर) १६२४.

सांख्यतत्त्वकौमुदी, (गजाननशास्त्री मुसलगांवकर विरचित हिन्दी व्याख्या सहित) वाचस्पति मिश्र. वाराणसी चौखम्भा संस्कृत संस्थान, १६६२.

इकाई 19 ऋतम्भरा प्रज्ञा और निरोध समाधि (समाधिपाद, सूत्र 48–51)

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

- चतुर्विध समापत्ति के प्रयोजन को समझ सकेंगे।
- चतुर्विध समापत्ति से उत्पन्न ऋतम्भरा प्रज्ञा को जान सकेंगे।
- ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं अन्य सामान्य प्रज्ञाओं के भेद को वर्गीकृत कर सकेंगे।
- ऋतम्भरा प्रज्ञा के प्रयोजन को जान सकेंगे।
- निर्बीज समाधि के स्वरूप एवं उसके उद्देश्य को समझ सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

विविध भारतीय दर्शनों का चरम लक्ष्य जगत् के प्राणियों के त्रिविध दुःखों का आत्यन्तिक उपशमन एवं परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति करना है। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' इस प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार भारतीय दर्शन में अनेकों सम्प्रदाय अथवा विचारधाराएँ बनी हैं। महाभारत में श्री शुकदेव जी कहते हैं कि इस योग के विना परम गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त नहीं किया जा सकता है – 'न तु योगमृते प्राप्तुं शक्या सा परमा गतिः।' दुःखों से शाश्वत मुक्ति योग द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। भगवान् श्री कृष्ण भी योग की महत्ता बताते हुए गीता में कहते हैं कि यह योग ही सर्व प्रकारक दुःखों को नष्ट करने वाला है – 'योगो भवति दुःखहा।' योगसिद्धि के सभी साधनों को पूर्ण करते हुए साधक जब चरम तक पहुँच जाता है तो वह योगी की संज्ञा को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार का योगी तपस्वियों से भी अधिक महत्त्व को प्राप्त होता है योगी ज्ञानियों से भी अधिक विद्वान् माना जाता है तथा कर्म को ही प्रधान मानने वाले साधकों की अपेक्षा योगी का कर्म अधिक प्रधान होता है भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन ! क्योंकि तपस्वी, ज्ञानी एवं कर्मपरायण लोगों की अपेक्षा योगी ही अधिक महत्त्व को प्राप्त करता है इसलिए तुम इस प्रकार के ही योगी बनो –

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।। (गीता, ६.४६)

भारतीय ज्ञान परम्परा में योग एक वैज्ञानिक साधना पद्धति है। महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में समाधिसिद्धि के मुख्यरूप से तीन साधन बताये गये हैं – अभ्यास–वैराग्य, क्रियायोग एवं अष्टाङ्गयोग। अभ्यास एवं वैराग्य उत्तम साधकों के लिए उपदिष्ट किये गये हैं – 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।'[1] मध्यम साधकों के लिए क्रियायोग का निर्देश किया गया है – 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।'[2] तथा अष्टाङ्गयोग के द्वारा अधम साधकों के लिए उपदिष्ट किया गया है –

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।[3]

अभ्यास एवं वैराग्य से निरन्तर चित्त को सात्त्विक प्रवृत्ति में लगाये रखने से चित्त धीरे–धीरे एकाग्र अवस्था को प्राप्त हो जाता है। यह अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि भी कही जाती है। इस समाधि में राजसिक और तामसिक चित्तवृत्तियों पर नियन्त्रण करने से स्वभावतः सात्त्विक गुण का आधिक्य अथवा उद्रेक हो जाता है। यह सम्प्रज्ञात समाधि भी मुख्य रूप से चार भागों में विभाजित है – वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत। ये चारों समाधियाँ भी स्थूल एवं सूक्ष्म की दृष्टि से दो – दो भागों में विभाजित हो जाती हैं। इन समाधियों से चित्तगत रजोगुण एवं तमोगुण शान्त हो जाते हैं। चित्तगत राजसिक एवं तामसिक गुणों के शान्त हो जाने पर चित्त में उत्कृष्टता एवं निर्मलता आती है यह अध्यात्मप्रसाद कहा जाता है – निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।[4] यही ऋतम्भरा प्रज्ञा की पृष्ठभूमि है।

19.3 ऋतम्भरा प्रज्ञा और निरोध समाधि

भारतीय लोक जीवन में दुःख के नाश हेतु योग एक अत्यन्त प्रसिद्ध पद्धति है। यह पद्धति अत्यन्त प्राचीन काल से ही मानव के व्यवहार में रही है। उसका प्रत्येक क्रियाकलाप किसी न किसी प्रकार से अवश्य ही योग से प्रभावित रहा है। एक सामान्य व्यक्ति भी अपने प्रतिदिन की दिनचर्या में निश्चित ही योग के कई सारे आसन, प्राणायाम आदि को जाने अनजाने में कर लेता है। यही कारण है कि प्राचीन काल में आधुनिक तकनीकि वाला विज्ञान न होने पर लोग सभी प्रकार के रोगों से मुक्त रहते थे। उनमें न ही किसी प्रकार शारीरिक रोग घर पाता था और न ही मानसिक रोग उन्हें पीड़ित कर पाते थे। सन्तुलित जीवन शैली एवं नियमित भोजन उन्हें सभी प्रकार के रोगों से मुक्त रखता था। जैसे – जैसे समय बीतता गया वैसे – वैसे लोगों के रहन – सहन में परिवर्तन होता चला गया जिसकी वजह से उनकी जीवन शैली प्रभावित हुई। लोगों ने शरीर एवं स्वास्थ्य की अपेक्षा भौतिक विषयों के उपभोग में अपनी रुचि दिखाई जिसकी वजह से उनकी दिनचर्या एवं भोजन सन्तुलित के स्थान पर असन्तुलित होता चला गया। ये असन्तुलन उनके जीवन को सभी प्रकार से दुःखों एवं व्याधि से प्रभावित करने वाला था।

जीवन शैली में बदलाव आने के कारण उनके शरीर के त्रिदोष वात, पित्त, कफ में बदलाव आया। शरीर के ये तीनों दोष जब तक सामान्य स्थिति में बराबर – बराबर

[1] योगसूत्र, १.१२
[2] योगसूत्र, २.१
[3] योगसूत्र, २.२९
[4] योगसूत्र, १.४७

मात्रा में बने रहते हैं तब तक शरीर में किसी भी प्रकार रोग अथवा व्याधि उत्पन्न नहीं होती है लेकिन जैसे ही इनमें असामंजस्य आता है वैसे वात से प्रभावित शरीर में वातजनित रोग उत्पन्न होने लगते हैं, पित्त की अधिकता होने पर शरीर में पित्तजनित रोग उत्पन्न होने लगते हैं तथा जब शरीर में कफ की अधिकता हो जाती है तो शरीर में कफजनित रोग उत्पन्न होने लगते हैं। इस प्रकार जैसे ही कोई व्यक्ति योग से दूर होकर अपनी जीवन शैली में बदलाव लाता है वैसे ही उसके जीवन में अनेक प्रकार के दुःखों का आक्रमण हो जाता है। शरीर में रोगों के उत्पन्न होने के कारण उनसे चित्त भी प्रभावित होता है। तथा चित्त में जैसे ही रोगों का प्रभाव पड़ता है वैसे ही चित्त में अनेक विकार उत्पन्न होने लगते हैं। क्योंकि चित्त से सुख – दुःख का अनुभव होता है अतः शरीर में रोगों के उत्पन्न होने से चित्त में सदैव ही दुःखानुभूति होने लगती है। इन विकारों के उपशमन में प्रवृत्त चित्त लौकिक उपायों से इन रोगों पर विजय तो प्राप्त कर लेता है लेकिन अब उसे शाश्वत सुख चाहिए होता है अतः वह अब शाश्वत सुख को पाने हेतु अग्रसर होता है जिसका सबसे सरल उपाय है योगसिद्धि द्वारा चित्तवृत्तियों पर निरोध करना। इन चित्तवृत्तियों के निरोध के प्रतिपादन में ही सम्पूर्ण योगशास्त्र विरचित है। महर्षि पतञ्जलि ने चित्तवृत्ति निरोध का साधन बताया है अभ्यास एवं वैराग्य।

अभ्यास एवं वैराग्य उपाय से जब चित्त लौकिक एवं अलौकिक विषयों से निस्पृह हो जाता है तो वह समाधि की ओर अग्रसर होता है। समाधि का लक्षण बताते हुए महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः[5] अर्थात् जिस अवस्था में चित्त केवल विषयों को जानता है उन विषयों को पाने या खोने में कोई उत्सुकता नहीं होती। वह समस्त विषयों में वैराग्य भाव को उत्पन्न कर दिया होता है। उसे अब परमार्थ की ओर अग्रसर होना है अतः वह लौकिक एवं अलौकिक विषयों का न ही भोग करेगा और न ही उनके प्रति किसी प्रकार की अभिलाषा उत्पन्न करेगा। समाधि का ही अगला पड़ाव ऋतम्भरा प्रज्ञा है और ऋतम्भरा प्रज्ञा का अगला पड़ाव निरोध समाधि है। इनके स्वरूप को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

19.3 ऋतम्भरा प्रज्ञा

पातञ्जल योग दर्शन का केन्द्रबिन्दु है समाधि। भाष्यकार ने समाधि को ही योग भी कहा है। किन्तु सामान्य स्थिति में योग और समाधि में भेद है। इसका भेद हमें चित्त की पाँच भूमियों के उल्लेख के सन्दर्भ में प्राप्त होता है जब हरिहरानन्द आरण्य प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए पाँचो भूमियों में सिद्ध होने वाले समाधि की व्याख्या करते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि चित्त की प्राथमिक तीनो भूमियों क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त में जो समाधि लगती है वह मात्र समाधि होती है उसका चित्तवृत्ति के निरोध से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। वह मात्र विषय में तल्लीन हो जाने से अन्तःकरण के सभी प्रकार के व्यापार में कुछ समय के लिए अवरोध हो जाता है। किन्तु कुछ समय के लिए अन्तःकरण के व्यापार में अवरोध हो जाने को योग अथवा समाधि तो कहा नहीं जा सकता है जैसे कि महाभारत के जयद्रथ के चित्त का समाधिस्थ हो जाना। विषय कुछ इस प्रकार है कि महाभारत के युद्ध के समय जब जयद्रथ पाण्डवों से हार गया था तथा उनके प्रति अत्यन्त प्रबल द्वेष उत्पन्न हो गया था जिससे कुछ समय के लिए उसका चित्त शिव में समाधिस्थ हो गया था। यह समाधि योग को प्राप्त कराने वाली नहीं है यह समाधि किञ्चित् काल के लिए ही होती है। चित्त में जब अत्यन्त हिंसा

[5] योगसूत्र, ३.३

आदि का प्रबल आवेश हो जाता है तो चित्त कुछ समय के लिए अन्य विषयों से हट जाता है यह क्षिप्त भूमि में लगने वाली समाधि की अवस्था कही गयी है। इसी प्रकार दूसरी भूमि मूढ में किसी अत्यन्त प्रिय वस्तु में संलिप्त हो जाता है जिससे उस प्रिय वस्तु के अतिरिक्त अन्य किसी विषय का उसे बोध नहीं होता है क्योंकि इस भूमि में तमोगुण की अधिकता होती है इसलिए इसमें काम–भावना ही अधिक होती है। जैसे कि अपनी प्रेयशी के चिन्तन में अत्यन्त अनुरक्त हो जाने के कारण प्रिय का चित्त मानो समाधिस्थ सा हो जाता है। वह प्रेयशी से अतिरिक्त अन्य किसी विषय का ज्ञान नहीं ग्रहण कर पाता है। इस भूमि में लगने वाली समाधि योग के लिए उपयुक्त नहीं होती है। तीसरी भूमि विक्षिप्त में साधक का चित्त अत्यन्त चंचल एवं स्थिर दोनों प्रकार का होता है। क्योंकि इस भूमि में रजोगुण एवं तमोगुण की अपेक्षा सत्त्वगुण की अधिकता होती है इसलिए बुद्धि – विवेक के अनुसार प्रत्येक साधक का चित्त भिन्न – भिन्न प्रकार के विषयों को ग्रहण करता है। इस भूमि में भी साधक को समाधि लगती है किन्तु चित्त के अस्थिर होने के कारण समाधि बार – बार टूटती रहती है इस प्रकार यह भूमि भी योग के लिए उपयुक्त नहीं है।

चित्त की चौथी भूमि एकाग्र है। नाम से ही ज्ञात होता है कि यह भूमि चित्त की एकाग्रावस्था की है। इस भूमि में रजोगुण एवं तमोगुण दबे रहते हैं और सत्त्वगुण का उद्रेक रहता है। इस भूमि में चित्त अत्यन्त सात्त्विक हो जाता है साधक अपने चित्त को जिस भी विषय में लगाना चाहता है वह लगा लेता है। यह अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि की है। साधक जब किसी आलम्बन में अपने चित्त को लगाता है तो उस समय उसके चित्त में अन्य विषयों का प्रवेश नहीं होता है यही चित्त की एकाग्रावस्था है। उस समय चित्त किसी भी भौतिक अभौतिक विषय को अपना आलम्बन बना सकता है। यह उस साधक के मेधा एवं सद्वृत्तियों पर निर्भर करता है कि वह किस प्रकार के आलम्बन में अपने चित्त को स्थिर कर पाता है। यदि उसकी मेधा अत्यन्त तीक्ष्ण है तो वह प्रारम्भ से ही अपने चित्त को किसी अभौतिक आलम्बन अर्थात् प्रणव में समाधिस्थ करता है किन्तु उसकी मेधा सामान्य है तो वह मूर्ति या अन्य किसी अपनी प्रिय वस्तु में ही अपने चित्त को समाहित करना चाहता है। अन्तिम भूमि है निरुद्ध। इस भूमि में प्रायशः सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है। सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण तीनों शून्य हो जाते हैं। यही अवस्था निर्बीज समाधि अथवा असम्प्रज्ञात समाधि नाम से भी जानी जाती है। जब सम्प्रज्ञात समाधि एवं चतुर्विध समापत्ति की सिद्धि हो जाती है तो साधक का चित्त अत्यन्त निर्मल हो जाता है। उसकी बुद्धि अत्यन्त प्रकृष्ट हो जाती है। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा की अवस्था में पूर्व के सभी कर्म संस्कार नष्ट हो जाते हैं। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा की कैवल्य की दृष्टि से अत्यन्त महनीयता है इसलिए इसको विस्तार से जानना अत्यन्त आवश्यक है। इस इकाई में विशेष रूप से ऋतम्भरा प्रज्ञा के स्वरूप, ऋतम्भरा प्रज्ञा के वैशिष्ट्य, उससे प्राप्त फल आदि का विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है जो प्रत्येक जिज्ञासु को जानना अनिवार्य है।

ऋतम्भरा प्रज्ञा को यदि सामान्य शब्दों में स्पष्ट करें तो इसका अर्थ प्राप्त होता है कि 'ऋतं सत्यं विभर्त्ति धारयति इति ऋतम्भरा' अर्थात् जो बुद्धि सत्य को प्रकट करे सत्य को धारण करे उसे ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि सूत्र द्वारा ऋतम्भरा का स्वरूप बताते हुए कहते हैं 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' अर्थात् जब निर्विचार समापत्ति से चित्तगत रजोगुण एवं तमोगुण दोनों शान्त हो जाते हैं तो चित्त अत्यन्त निर्मल एवं उत्कृष्ट हो जाता है। ऋतम्भरा शब्द ऋतम् अव्यय से भृञ् धातु से खच् एवं टाप् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। मेदिनीकार के अनुसार ऋतम् शब्द का सामान्य अर्थ सत्य होता है। वाचस्पत्यम् में ऋतम् का अर्थ मोक्ष भी प्राप्त होता है। जो चित्त अपने

स्वरूप में स्थित हो, सत्त्वगुणप्रधान हो यही चित्त का सत्यस्वरूप है। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न होती है वह ऋतम्भरा प्रज्ञा होती है। यह बुद्धि अथवा प्रज्ञा हमेशा सत्य को ग्रहण करने वाली होती है सत्य से अतिरिक्त वह किसी अन्य ज्ञान को ग्रहण नहीं करती है जैसे कि संशय, अज्ञान और भ्रम आदि।

इस ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय होने पर सांसारिक विषयों में वैराग्य उत्पन्न होकर तत्त्वज्ञान के साधनों में आने वाले चित्त के विक्षेपों का अभाव हो जाता है। आशय यह है कि जब साधक का चित्त समाधि में लगने वाला होता है तो कुछ विषय ऐसे होते हैं जो साधक के चित्त में स्थित होकर विचलित कर देते हैं जिससे कि उस साधक का चित्त एकाग्र नहीं हो पाता और वह पुनः विषयों के प्रति उत्कंठित हो जाता है। इनकों अन्तराय, चित्तविक्षेप, योग के विरोधी अथवा योग के विघ्न कहे जाते हैं इनकी संख्या कुल ६ है यथा – व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व एवं अनवस्थितत्व। महर्षि पतञ्जलि कहते भी हैं 'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।'[6] ये विक्षेप जहाँ भी उपस्थित होते हैं चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं। संक्षेप में इन नवों अन्तरायों को जानते हैं। व्याधि का सामान्य अर्थ वात – पित्त – कफ इन तीनों शारीरिक धातुओं में जब वैषम्य उत्पन्न होता है तो शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं रोग से पीड़ित शरीर द्वारा समाधि प्राप्त नहीं जा सकती है इस प्रकार यह चित्त विक्षेप है। स्त्यान का आशय है चित्त का अकर्मण्य होना अर्थात् किसी कार्य में चित्त का न लगना, उत्साह की कमी होना। जब किसी कार्य में चित्त की प्रवृत्ति नहीं होती है वह जड़वत् पड़ा रहता है तो यह भी समाधिसिद्धि के लिए सही नहीं है क्योंकि जब तक शरीर अथवा चित्त द्वारा किसी प्रकार की क्रिया सम्पन्न नहीं होगी तब तक वह समाधि की सिद्धि कैसे कर पायेगा? अतः यह स्त्यान भी योग का विरोधी है।

जब एक ही विषय में दो अथवा दो से अधिक का ज्ञान होता है तो यह संशय है। संशय का स्वरूप बताते हैं 'स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति' अर्थात् यह ऐसा होगा अथवा ऐसा नहीं होगा। जब तक किसी भी वस्तु में निश्चित ज्ञान न हो तब तक उसका वास्तविक स्वरूप नहीं जान सकते हैं इस प्रकार संशय भी योग में विघ्न करने वाला है। इस साधना से सिद्धि मिलेगी अथवा नहीं मिलेगी इस प्रकार का संशय बना रहता है। प्रमाद नामक अन्तराय भी योगसिद्धि में बाधक बनता है जैसे कि समाधि के साधनों में उपेक्षा भाव रखना, उनका अनुष्ठान न करना; यह प्रमाद है। जब तक साधक द्वारा शास्त्रोपदिष्ट उपायों का यथावत पालन नहीं किया जायेगा तब तक समाधि की सिद्धि कैसे हो पायेगी? अतः प्रमाद भी योग में बाधक बनता है। तमोगुण की अधिकता होने के कारण शरीर अथवा चित्त में भारीपन आने से किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती है तो वह आलस्य कहलाता है। आलस्य के कारण भी साधक की साधनों में प्रवृत्ति नहीं होती है। चित्त का विषयों से संयोग होने पर जब चित्त में उन विषयों के प्रति आकर्षण अथवा लालच उत्पन्न हो जाता है तो वह अविरति कहलाता है। अविरति से युक्त साधक का चित्त कभी भी समाधि में लगने नहीं देता है अतः यह अविरति भी योगसिद्धि में बाधक होता है।

जब वस्तु का स्वरूप अन्य हो किन्तु उसका बोध उसके यथार्थ स्वरूप के विपरीत होता है तो वह भ्रान्तिदर्शन कहलाता है – भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्। भ्रान्तिदर्शन नामक अन्तराय चित्त को हमेशा अन्यान्य विषयों में उलझाये रखता है तथा विषय के

---

[6] योगसूत्र, १.३०

वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होने देता है जैसे कि साधक द्वारा किये जाने वाले उपाय समाधिसिद्धि में लाभप्रद न हों किन्तु साधक को भ्रान्तिदर्शन होता है कि ये समाधिसिद्धि के लिए उपयुक्त साधन हैं, इस प्रकार यह भी योग का विरोधी है। जब चित्त समाधि में प्रवृत्त हो किन्तु उसे समाधि की भूमियाँ ही प्राप्त न हों तो ये अलब्धभूमिकत्व कहलाता है – 'अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः।' निरन्तर प्रयास करने से भी यदि समाधि की भूमियों की प्राप्ति हो भी जाती है तो चित्त उसमें स्थित नहीं हो पाता है यदि कभी स्थित भी हो जाता है तो तुरन्त उससे बाहर भी आ जाता है यह अन्तराय अनवस्थितत्व कहलाता है। ये नवों अन्तराय साधक के चित्त अथवा शरीर में इस प्रकार के विकार उत्पन्न करते हैं कि वह समाधि में सलंग्न नहीं हो पाता है और जब तक साधक समाधि में संलग्न नहीं होगा तब तक उसे समाधिलाभ नहीं होगा। इन अन्तरायों के कुछ सहकारी भी होते हैं जो योग में विघ्न उत्पन्न करते हैं जैसे कि–

दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, ष्वास एवं प्रष्वास –
दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वष्वासप्रष्वासा विक्षेपसहभुवः।[7]

इन सभी अन्तरायों पर विजय प्राप्त करते हुए चित्त को हमेशा समाधि में लीन किये रखने वाला साधक सम्प्रज्ञात समाधि को सिद्ध कर लेने के पश्चात् चतुर्विध समापत्तियों पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में चित्त के रजोगुण एवं तमोगुण दब जाते हैं अतः चित्त अत्यन्त उत्कृष्ट एवं निर्मल हो जाता है। यह चित्त की अध्यात्मप्रसाद अवस्था कही जाती है। व्यासभाष्यकार कहते हैं कि उस निर्विचारा समापत्ति अवस्था में स्थित साधक के चित्त में विशिष्ट प्रकार की प्रज्ञा उत्पन्न होती है जिसे ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं – 'तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति।' इस ऋतम्भरा प्रज्ञा की स्थिति में किसी भी विषय का ज्ञान नहीं होता है क्योंकि इस अवस्था में विपर्यय ज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान नहीं होता है – **न च तत्र विपर्यासज्ञानगन्धोऽप्यस्तीति।** इस ऋतम्भरा प्रज्ञा की स्थिति में रहते हुए साधक आगम, अनुमान एवं ध्यानाभ्यास के द्वारा प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि को अत्यन्त प्रकृष्ट एवं शोधन करते हुए उत्तम योग प्राप्त कर लेता है – **आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।** त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्।। इसी विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए योगवार्तिक में कहा गया है कि श्रवण मनन एवं निदिध्यासन त्रिविध साधनों के द्वारा सबीज समाधि में स्थित प्रज्ञा को अत्यन्त प्रकृष्ट कर दिया जाता है जिससे वह प्रज्ञा विपर्यय से रहित होकर विषयों का बोध कराती है तथा परवैराग्य के द्वारा उत्तमयोग अर्थात् निर्बीज समाधि को प्राप्त कर लिया जाता है – तथा **च श्रवणमनननिदिध्यासनैस्त्रिभिर्हेतुभिः सबीजयोगकाले प्रज्ञां प्रकल्पयन् प्रकर्षेण विपर्यासराहित्येनोत्पादयान् तत्प्रज्ञातः परवैराग्यद्वारा वक्ष्यमाणमुत्तमयोगं निर्बीजं लभत इति।**

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि जब प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से ही सभी विषयों का ज्ञान हो जाता है पुनः ऋतम्भरा प्रज्ञा नामक एक अन्य प्रज्ञा के कल्पना की क्या आवश्यकता है? जो विषय इन्द्रियों के समक्ष उपस्थित होते हैं उनका ज्ञान प्रत्यक्ष से हो जाता है, जो सूक्ष्म, व्यवधानसहित एवं दूरस्थ हैं उनका ज्ञान भी अनुमान एवं आगम से हो जाता है। अग्रिम सूत्र में ऋतम्भरा प्रज्ञा को आगम एवं अनुमान प्रमाण से भिन्न एवं विशेष बताते हुए महर्षि पतञ्जलि कहते हैं – 'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया

---

[7] योगसूत्र, १.३१

विशेषार्थत्वात्'[8] अर्थात् निर्विचारा समापत्ति से चित्त में रजोगुण एवं तमोगुण की न्यूनता होने पर जो ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है वह आगम एवं अनुमान ज्ञान से भिन्न होती है क्योंकि आगम एवं अनुमान ज्ञान सामान्य होते हैं। किन्तु योगदर्शन में भूतसूक्ष्मगत एवं पुरुषगत विशेषज्ञान का दर्शन करने में आगम एवं अनुमान की भूमिका दृष्टिगोचर नहीं होती है किन्तु योगसिद्धि हेतु भूतसूक्ष्मगत एवं पुरुषगत विशेषज्ञान विशेष प्रज्ञा से ही गृहीत होते हैं अतः ऋतम्भरा प्रज्ञा ही इस विषय ज्ञान को ग्रहण करने वाली है। व्यासभाष्यकार भी कहते हैं – 'न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणमस्ति। न चास्य विशेषस्याप्रमाणकस्याभावोऽस्तीति समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति। भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा। तस्माच्छ्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति।'

अब जब ऋतम्भरा प्रज्ञा से भूतसूक्ष्मगत एवं पुरुषगत विशेषज्ञान होता है तो फिर उनका संस्कार भी बनेगा क्योंकि प्रत्येक ज्ञान का संस्कार बनता है अतः ऋतम्भरा प्रज्ञा का भी संस्कार बनेगा ही। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि जब ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न हो जाती है तो उससे अन्य सभी संस्कारों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है – 'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी।'[9] आशय यह है कि समाधिप्रज्ञा अथवा ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार अन्य सभी व्युत्थान संस्कारों को बाधित कर देते हैं जब व्युत्थान संस्कार बाधित कर दिये जाते हैं तो उनसे उत्पन्न होने वालीं प्रमाण – विपर्यय – विकल्प – निद्रा – स्मृति वृत्तियाँ भी रुक जाती हैं जब ये सारी वृत्तियाँ रूक जाती हैं तो समाधि की उपस्थिति होने लगती है इस स्थिति में साधक के चित्त में ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है इस ऋतम्भरा प्रज्ञा के उत्पन्न होने पर पूर्व के सभी संस्कार रूक जाते हैं एवं ऋतम्भरा प्रज्ञा से सम्बद्ध नये – नये संस्कार उत्पन्न होने लगते हैं। ये ऋतम्भरा प्रज्ञा सामान्य प्रज्ञा से भिन्न होने के कारण प्रमाणादि वृत्तियों के संस्कारों को रोकने वाली होती है तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार अविद्यादि क्लेशों को क्षीण कर देते हैं तथा साधक के चित्त को अन्य सभी भोगात्मक वृत्तियों से हटा देते हैं। इस स्थिति में एक सामान्य सी बात समझनी है कि जो ऋतम्भरा प्रज्ञा नाम से कही गयी है वही विवेकख्याति नाम से भी प्रसिद्ध है। और विवेकख्याति के उत्पन्न हो जाने पर पूर्व के कोई भी संस्कार नहीं रह जाते हैं अर्थात् पूर्व के सभी संस्कार नष्ट हो जाते हैं।

अब जब चित्त के प्रत्यक्षादि वृत्ति वाले सभी संस्कार नष्ट हो गये हैं तो ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाले संस्कार चित्त को कर्त्तव्यशून्य कर देते हैं। आशय यह है कि प्रमाणादि वृत्तिगत सभी व्यवहार पुरुष के भोगरूप अर्थ को सिद्ध करते हैं और जब विवेकख्याति उत्पन्न हो जाती है तो इन सभी चित्तवृत्तियों का कार्य समाप्त हो जाता है क्योंकि विवेकख्याति उत्पन्न होते ही पुरुष परमपुरुषार्थ मोक्ष का भागी बन जाता है अतः अब उसे अन्य किसी विषय के भोगोपभोग की अथवा अन्य किसी पुरुषार्थ के प्राप्ति की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इसलिए चित्त का कार्य समाप्त हो जाने पर वह कर्त्तव्यशून्य हो जाते हैं। इस प्रकार महर्षि पतञ्जलि विरचित योगसूत्र के समाधि पाद के ४८–५० तक के तीन सूत्रों में ऋतम्भरा प्रज्ञा का स्वरूप, ऋतम्भरा प्रज्ञा का क्षेत्र एवं अन्य प्रज्ञाओं से वैशिष्ट्य तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा के फल का विवेचन किया गया है। जब ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न हो जाती है तो ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाले संस्कारों का किस प्रकार से दमन होता है तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कारों का दमन

---

[8] योगसूत्र, १.४६

[9] योगसूत्र, १.५०

होने पर साधक किस स्थिति को प्राप्त करता है? इसका विवेचन सूत्रकार ने समाधि पाद के अन्तिम सूत्र में किया है, जो निर्बीज समाधि नाम से प्रसिद्ध है।

19.4 निरोध समाधि

ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाले संस्कारों का भी नाश होना आवश्यक है क्योंकि यदि चित्त में किसी भी प्रकार के संस्कार स्थित रहे तो निर्बीज समाधि की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिए उन संस्कारों का नाश निर्बीज समाधि में हो जाता है जैसे कि महर्षि पतञ्जलि ने कहा है – 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः'[10] अर्थात् उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार के निरोध होने पर सभी संस्कारो का निरोध हो जाने से निर्बीज नामक समाधि सिद्ध होती है। आशय यह है कि जब ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है तो पूर्व के सभी व्युत्थान संकार नष्ट कर दिये जाते हैं तथा इस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाले संस्कार निर्बीज समाधि में शिथिल कर दिये जाते हैं इस प्रकार यह निर्बीज समाधि के द्वारा केवल ऋतम्भरा प्रज्ञा ही बाधित नहीं होती है अपितु ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाले संस्कार भी बाधित कर दिये जाते हैं व्यासभाष्यकार स्पष्टतः कहते हैं – 'स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी। प्रज्ञातानामपि संस्काराणां प्रतिबन्धी भवति।' यह निर्बीज समाधि ही असम्प्रज्ञात समाधि नाम से भी प्रसिद्ध है योगवार्त्तिककार कहते हैं कि इस प्रकार से उस ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा उत्पन्न संस्कारों का भी असम्प्रज्ञात समाधि से निरोध कर दिये जाने पर अत्यन्ताभिभव कर दिये जाने पर चरम योग असम्प्रज्ञात समाधि अथवा निर्बीज योग की पराकाष्ठा का व्युत्थापन होता है यथा – 'एवं क्रमेण तु तस्यापि प्रज्ञाकृतसंस्कारस्याप्यसम्प्रज्ञातपरम्परया निरोधेऽत्यन्ताभिभवे जायमाने चरमासम्प्रज्ञातो निर्बीजयोगस्य पराकाष्ठा भवत्यपुनर्व्युत्थानेत्यर्थः।' इस प्रकार सभी प्रकार के संस्कारों के निवृत्त हो जाने पर पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है और पुरुष का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही परम पुरुषार्थ है, चरमावस्था है, मुक्तावस्था है, मोक्ष है, कैवल्य है – तास्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽतः शुद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यत इति।

इस प्रकार सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में जो प्रतिज्ञा ली थी वह असम्प्रज्ञात समाधि के साथ ही पूर्ण होती नजर आती है। प्रतिज्ञा इस प्रकार थी कि पुरुष को अपने स्वरूप में स्थित होना है। क्योंकि पुरुष अज्ञानावच्छिन्न होकर स्वयं को जगत् के समस्त वस्तुओं एवं विषयों को भोगने वाला भोक्ता समझ बैठता है और अन्तःकरण का उसमें प्रतिबिम्बन होने से स्वयं को सुख एवं दुःख से आप्लावित मान लेता है। परमार्थ दृष्टि से ऐसा है नहीं किन्तु व्यावहारिक दृष्टि में सुख दुःखादि से पुरुष को पीड़ित होते हुए देखा जाता है। साङ्ख्य दर्शन के तत्त्वज्ञान से पुरुष के सबसे पहले अज्ञान नष्ट किया जाता है तथा योग दर्शन से उसके चित्त को नियन्त्रित करके समाधि के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करायी जाती है। मोक्ष के साधनों में ही ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं निर्बीज समाधि उपस्थित होते हैं। क्योंकि सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि एवं चतुर्विध समापत्ति पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् चित्त अत्यन्त निर्मल हो जाता है। उस समय चित्त में किसी भी प्रकार के बाह्य विषय का लेशमात्र नहीं रहता है तथा साथ ही कर्मों के सभी संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा के जो संस्कार बनते हैं वे भी अन्त में निर्बीज समाधि की अवस्था में नष्ट कर दिये जाते हैं। इस प्रकार पुरुष अब अज्ञान से मुक्त हो चुका है, अज्ञानवशात् सांसारिक

---

[10] योगसूत्र, १.५१

बन्धनों में पड़े रहने का जो आभास हो रहा था उससे मुक्त हो चुका है। वह अपने परम पुरुषार्थ स्वरूप में स्थित हो चुका है यही योग का परम प्रयोजन है।

19.5 सारांश

भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ चतुष्टय का अत्यन्त महत्त्व है प्रत्येक मनुष्य को इन चारों को प्राप्त करना आवश्यक होता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थों में से धर्म, अर्थ और काम परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति में हेतु बनते हैं। इस परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति हेतु ही भारतीय ज्ञान परम्परा में अनेकों शास्त्रों की रचना की गयी है दर्शनशास्त्र इनमें अन्यतम है। अनेक भागों में विभाजित दर्शन में भी योगदर्शन अत्यन्त वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दर्शन है। यह दर्शन सांख्यदर्शन का ही व्यावहारिक पक्ष कहलाता है। कभी कभी इसे सेश्वर सांख्यदर्शन भी कहते हैं। योगदर्शन में चित्तवृत्तियों का निरोध करके पुरुष का अपने स्वरूप में स्थित हो जाना ही मोक्ष कहलाता है। चित्तवृत्तियों के निरोध हेतु अभ्यास एवं वैराग्य परम साधन बताये गये हैं। इनका निरन्तर अभ्यास करते रहने से चित्त अत्यन्त निर्मल हो जाता है। चित्त के रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं जिससे चित्त अत्यन्त उत्कृष्ट हो जाता है। चित्त के निर्मल एवं उत्कृष्ट होने पर ऋतम्भरा नामक प्रज्ञा उत्पन्न होती है यह प्रज्ञा पूर्व के सभी व्युत्थान संस्कारों को नष्ट कर देती है तथा कैवल्यानुकूल संस्कारों को उत्पन्न करती है। अन्त में ये भी संस्कार निवृत्त हो जाते हैं ये अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि की कही जाती है इसे ही निर्बीज योग अथवा समाधि भी कहा गया है। यही पुरुष के अपने स्वरूप में स्थित होने की अवस्था है यही परम पुरुषार्थ है यही मोक्ष है यही कैवल्य है।

19.6 शब्दावली

अत्यन्तनिवृत्ति	–	हमेशा के लिए निवृत्त हो जाना
व्युत्थान संस्कार	–	समाधि सिद्धि में बाधक संस्कार
समाहित चित्त	–	चित्त की एकाग्र अवस्था
विपर्यास ज्ञान	–	विपरीत ज्ञान, मिथ्याज्ञान
प्रज्ञा	–	बुद्धि
विवेकख्याति	–	पुरुष–प्रकृति विवेक ज्ञान
स्वरूपमात्र	–	पुरुष का शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव
शुद्ध	–	त्रिगुणरहित, अज्ञानरहित

19.7 बोध प्रश्न

- ऋतम्भरा प्रज्ञा का स्वरूप बतायें।
- ऋतम्भरा प्रज्ञा के उत्पन्न होने तथा उसके प्रयोजन को समझायें।
- निर्बीज समाधि को परिभाषित करते हुए उसकी प्रक्रिया बतायें।
- ऋतम्भरा प्रज्ञा से पूर्व की स्थिति का विवेचन करें।

19.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

१. पातंजल योगसूत्र, व्याख्याकार, श्रीनन्दलाल दशोरा, हरिद्वार, रणधीर प्रकाशन, १९९७।

२. योगदर्शन (प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या), व्याख्याकार, स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी, मुम्बई, श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट।

३. योगदर्शन, व्याख्याकार, पं. राजाराम प्रोफेसर, लाहौर, साहित्य प्रचारक मण्डल, १९२२।

४. पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्याख्याकार, डॉ. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।

५. पातञ्जल योगदर्शनम्, व्याख्याकार, श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी विज्ञानाश्रम, अजमेर, दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस १९३२।

६. पातञ्जल योगसूत्र (बंगाली बाबा व्याख्या), हिन्दी अनुवादक, कुमारी वृजरानी देवी, पूना, एन.आर.भार्गव, १९४८।

७. योगदर्शन समीक्षा, लेखक – पं. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, वाराणसी, कृष्णदास अकादमी, १९९७।

८. योगतत्त्वाङ्क, कल्याण विशेषाङ्क, गीताप्रेस गोरखपुर, वर्ष १९९।

९. भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व, लेखक – एम. हिरियन्ना, अनु. प्रकाश नारायण शर्मा, सेन्ट्रल बुक डिपो, १९५४।

१०. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, लेखक – प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, १९७४।

११. भारतीय दर्शन, लेखक – आचार्य बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, चौखम्भा ओरियन्टालिया, १९७६।

१२. भारतीय दर्शन, लेखक – वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, २००६।

१३. भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, लेखक – चन्द्रधर शर्मा, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, २०१०।

इकाई 20 योग के आठ अंग (साधनापाद, सूत्र 21–25 तथा विभूतिपाद, सूत्र 1–4)

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

- पातञ्जलयोगसूत्र के अनुसार योग के आठों अंगों के स्वरूप का परिज्ञान कर सकेंगे।
- आठों अंगों के व्युत्पत्तिपरक एवं निष्पत्तिपरक अर्थों की व्याख्या का बोध कर सकेंगे।
- अष्टांग योग के लक्षण का विवेचन जान सकेंगे।
- अष्टांग योग के प्रयोजन एवं व्यवहारिक उपादेयता को समझ सकेंगे।
- अष्टांग योग में से अन्तरंग एवं बहिरंग अंगों के भिन्नभिन्न स्वरूप एवं उनकी उपादेयता का बोध कर सकते हैं।

20.1 प्रस्तावना

संसार के सभी प्राणियों की दृढ़ इच्छा रहती है कि उसके दुःख की निवृत्ति एवं नित्य सुख की प्राप्ति हो। किन्तु प्रायः सभी मनुष्यों के पास किसी न किसी प्रकार का दुःख अवश्य ही रहता है। इच्छा के विपरीत वस्तुओं से जब संयोग होता है तब मनुष्य को दुःख होता है। जैसे किसी अप्रिय वस्तु अथवा प्राणीमात्र से संयोग एवं प्रियवस्तु अथवा प्राणिमात्र से वियोग होने पर मनुष्य का चित व्याकुल हो जाता है, यह व्याकुलता वाली स्थिति का नाम ही दुःख है।

यह दुःख तीन प्रकार से अन्तःकरणवर्ति चेतना मे प्रतिकूलतया अभिसम्बन्ध के अभिघात को ही एक प्रकार से दुःख कहा जाता है। दुःख वस्तुत; अपने कारण के भेद से अनन्त होने पर भी इस दुःख को तीन प्रकार से विभक्त किया जा सकता है, आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक।

प्रथम दुःख आध्यात्मिक दुःख भी शारीरिक एवं मानसिक भेद से दो प्रकार का है। वात, पित्त एवं कफ के सुचारू रूप से सामान्य अवस्था में गतिमान होने पर शरीर का सञ्चालन होता है, जब वात, पित्त एवं कफ इन तीनों में विषमता होती है तब शारीरिक दुःख होता है। मानसिक दुःख कामक्रोधलोभादि से समुत्पन्न होता है।

आधिभौतिक दुःख तब उत्पन्न होता है जब मनुष्य और पशु आदि भूतों के द्वारा दुःख उत्पन्न होता है। आधिदैविक दुःख यक्ष, राक्षस एवं ग्रहादि के द्वारा प्रयुक्त होते हैं ।

इन तीनों प्रकार की दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति के द्वारा सुख की प्राप्ति हो सकती है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन वृत्तियों का निरोध ही योग कहा जाता है।[1] योग के आठ प्रकार के अंग बताये गये है। योग अंगी अर्थात् प्रधान है और इसके आठ प्रकार के अंग सहायक है।

[2]प्रमाण, विपर्यय, विकल्प निद्रा और स्मृति रूपी चित्त के पांचों वृत्तियों का निरोध अर्थात् अपने कारण स्वरूप में परिणत हो जाना ही योग कहलाता है। यह योग अपने आठ प्रकार के अंगों से युक्त होकर फलवान होता है। योग प्रधान क्रिया का नाम है। प्रधान क्रिया की निष्पति अप्रधान क्रिया आठों अंगों के साथ सम्पादित करने पर फलीभूत होता है। योग के आठ प्रकार के अंगों के नाम यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि है। योग के अंग यमनियमादि को अनुष्ठित करने से अर्थात् ज्ञानपूर्वक निरन्तर अभ्यास करने से अशुद्धि संज्ञक जाति, आयु और भोग के जनक क्लेशात्मक पांच अविद्यादि विपर्ययों का नाश अर्थात् स्वकारणों में लय होता है। जैसे–जैसे अशुद्धि का नाश होता है वैसे–वैसे ज्ञानज्योति प्रकाशित होती है जो कि सत्त्वपुरूषान्यताख्याति विवेकख्याति की उत्पत्ति पर्यन्त होती है। योगाङ्गों का अनुष्ठान अविद्या के नाश का कारण होता है और तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति का कारण होता है। तत्त्वज्ञान के द्वारा विवेकख्याति की प्राप्ति होती है।[3]

20.2 योग के आठ अंग

महर्षि पतञ्जलि ने योग के आठ अंगों का निरूपण किया। किसी भी कार्य को सम्पन्न करने वाले पदार्थ को अंग के नाम से जाना जाता है। इन्हीं को उपकरण अथवा करण के नाम से जानते हैं। योग का अंग कहने का तात्पर्य यह निकलता है कि ये सब योग से अतिरिक्त है लेकिन ऐसा समझना भ्रम जैसा है। वस्तुतः सांख्ययोगदर्शन में अंग और अंगी में भेद स्वीकार नहीं किया जाता है अपितु अंग और अंगी में अभेद होता है। यदि अंग और अंगी में भेद स्वीकार किया जाये तब सत्कार्यवाद के उच्छेद होने की आपत्ति हो जायेगी। अंग–अंगी में अभेद मानने से यह ज्ञात होता है कि योग इन आठ अंगों से अतिरिक्त नहीं है। इन्हीं आठों अंगों के समूह के नाम को ही योग शब्द से कहा जाता है। योग के अंग और अंगी में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग भ्रमात्मक है।

योग के आठ अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि है। इन आठों में से पूर्ववर्तित पांच को बहिरङ्ग और तदुत्तरवर्त्ति इन तीनों को अन्तरङ्ग के नाम से जानते हैं। अन्तरङ्ग को सिद्ध करने में बहिरङ्ग सहायक होते हैं। साधकों को इन बहिरङ्गों की सिद्धि के अनन्तर ही अन्तरङ्गों की सिद्धि सम्भव है।

यम

योग के आठ प्रकार के अंगों में से प्रथम अंग यम है, यम का तात्पर्य उन आचार नियमों से है जो कि प्रतिदिन नित्य क्रियाएँ है जिनके द्वारा हम अपने से भिन्न किसी

---

[1] योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥१.२

[2] यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि॥"२.२६

[3] योगानुष्ठानादशुद्धिये ज्ञानदीप्तिरविवेकख्यातेः।२.२८

अन्य प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचाते है। यम के पांच भेद है– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।[4]

अहिंसा

किसी भी प्रकार से सभी कालों में सभी प्रकार के भौतिक प्राणियों से क्रोध नहीं करना ही अहिंसा है।[5] हिंसा तीन प्रकार से सम्भव है, कायिक, वाचिक एवं मानसिक। शरीर, वाणी एवं मन इन तीनों प्रकार से हिंसा का अभाव अहिंसा कहलाता है। शरीर के द्वारा स्वयं के लिये अथवा अन्य के दुःख को उत्पन्न करने वाले आचरण को कायिक हिंसा कहते है। वाणी के द्वारा स्वयं अथवा किसी अन्य प्राणी के दुःख को उत्पन्न करने वाले आचरण को हिंसा कहा जाता है इसी प्रकार से स्वयं अथवा किसी दूसरे प्राणी के लिये दुःख को उत्पन्न करने वाले आचरण करने का संकल्प लेने वाली हिंसा को शारीरिक हिंसा कहते है। इस प्रकार से इन तीनों क्रियाओं के विपरीत आचरण को क्रमशः कायिक, वाचिक और मानसिक अहिंसा कहते है। अहिंसा को परम धर्म स्वीकार किया गया है इसलिये यम के पांचों भेद में से प्रथम अहिंसा को स्वीकार किया गया है। अहिंसा सभी भूत धर्म से श्रेयस्सकर होने से सभी प्राणियों द्वारा स्वीकरणीय है।

सत्य

वाणी एवं मन की एकस्वरूपता को हि सत्य कहा जाता है।[6] जो भी वस्तु का स्वरूप अथवा कर देना ज्ञान हमारे मन में है उसको वाणी के द्वारा प्रकट करना सत्य कहलाता है। मन में कुछ अन्य विषय चल रहे हो और वाणी में उससे भिन्न तब सत्य नहीं हो सकता है। यदि जैसा प्रमाबोध है वैसा ही वाणी और मन की प्रवृत्ति होनी चाहिये। यदि वाणी में वञ्चना, भ्रान्तता और विपरीतता होने लगे तब ऐसी वाणी के प्रयोग करने पर भी किसी अन्य के लिये हितकर नहीं हो सकती है क्योंकि वह असत्य का अनुषाङ्गिक है। जो वाणी वञ्चना, भ्रान्तता और विपरीतता से युक्त नहीं है वह सभी प्राणियों की उपकारक होती है। सत्य का कथन श्रेय है और सत्यज्ञान अत्यन्त दुष्कर होता है। जो कथन भूतों के हितकर होते हैं यही सत्य का लक्षण है। कहा भी गया है कि–

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यज्ञानन्तु दुष्करम्।

यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यस्य लक्षणम्॥

जैसे वाणी सत्य का अनुसरण करते हुये व्यापार करती है और उसी के अनुगुण संकल्प करती है इसलिये पदार्थ यथार्थ संकल्पन मनस का सत्यता है। यदि मन में सत्यभावना होने पर भी वाणी के द्वारा असत्य का उपदेश देने पर वह किसी के लिये हितकर नहीं होता है। यदि मन में असद् भावना होने पर वाणी के द्वारा सत्य का उपदेश देते है तब भी वह हितकर नहीं होता है इसलिये वाणी और मन इन दोनों की एकवाक्यता होने पर सत्य का व्यवहार होता है।

अस्तेय

चौर कर्म को स्तेय कहा जाता है, अर्थात् किसी व्यक्ति के द्रव्य का हरण करना स्तेय है, और दूसरे के द्रव्य का हरण नहीं करना अस्तेय है। स्तेय अर्थात् हठपूर्वक प्रत्यक्ष

---

[4] अहिंसासत्यास्तेयब्रह्माचर्यापरिग्रहयमाः। २.३०

[5] सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः।

[6] वाङमनसयोर्याथार्थ्यम्।

अथवा अप्रत्यक्ष द्वारा परस्वत्व का हरण करना। किसी दूसरे के धन का हरण नहीं करना सनातन धर्म का हिस्सा है। दूसरे के सत्ता वाले द्रव्यादि जो भी वस्तु उसके स्वामी के निर्देश के बिना स्वीकार करना स्तेय कहलाता है स्तेय का अभाव ही अस्तेय है। साधक के लिये अस्तेय का धर्म होना अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा उसकी साधना एकाग्र नहीं हो सकती है। मन, वाणी एवं कर्म इन तीनों के द्वारा परद्रव्य का अपहरण नहीं करना अस्तेय कहलाता है।

ब्रह्मचर्य

इन्द्रियों का संयम ब्रह्मचर्य कहलाता है। ब्रह्मचर्य की रक्षा सर्वदा आठ प्रकारों से करनी चाहिये, वे आठ प्रकार हैं – स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अनध्यवसाय और क्रिया। इन आठों प्रकारों से ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी होती है। गुप्त इन्द्रिय उपस्थ का संयमपूर्वक आठ प्रकार से स्त्री का परित्याग करना ब्रह्मचर्य कहलाता है। ब्रह्मचर्य के प्रतिष्ठा होने पर वीर्य का लाभ होता है।

अपरिग्रह

भोग–साधनों के संग्रह का नाम परिग्रह कहलाता है, इन भोग–साधानों का संग्रह नहीं करना ही अपरिग्रह कहलाता है। भोग साधनों के संग्रह का अर्थ होता है कि इन्द्रिय और अन्तः करणों का अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेशों के उत्पादक पदार्थों के साथ सम्पर्क स्थापित करना है। जाति, आयु और भोग को प्रदान करने वाले पदार्थ की स्वीकृति करना ही संग्रह है। परिग्रह करने से बन्धन की प्राप्ति होती है इसलिये योगियों के द्वारा क्लेशों के विनाश के हमेशा तथाविध पदार्थों का संग्रह नहीं करना चाहिये अन्यथा साधक के योग की क्षति की आपत्ति प्रसक्त हो जायेगी इसलिये सर्वथा अपरिग्रहात्मक यम का पालन योगियों को करना चाहिये।

इन सभी प्रकार के यमों के अभ्यास से तत्तत् फलों की प्राप्ति होती है, जैसे अहिंसा की स्थापना करने से उसके सन्निधि में सभी जीव जन्तुओं मे परस्पर वैर का परित्याग हो जाता है।[7] सत्य की प्रतिष्ठा हो जाने पर उनकी वाणी से कहे हुये वचनों के अनुसार क्रिया अर्थात् फल की प्राप्ति अवश्य होने लगती है। जो उनके वाणी से निःसृत होता है वह अवश्य ही फलीभूत होता है।[8] अस्तेय की प्रतिष्ठा होने पर सभी प्रकार के सम्पदार्थों की प्राप्ति होती है। जिस वस्तु की इच्छा करते हैं उस वस्तु की प्राप्ति निश्चित रूप से हो जाती है।[9] ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा हो जाने पर वीर्य अर्थात् शक्तिविशेष का लाभ होता है, इसी प्रकार से ज्ञान, क्रिया एवं शक्ति का भी लाभ होता है।[10] अपरिग्रह की स्थापना हो जाने पर जन्मकथन्ता अर्थात् स्वात्मस्वरूप का परिज्ञान, जन्म लेने के उद्देश्य का परिज्ञान हो जाता है।[11]

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचों का जाति, देश, काल और समय इन तीनों अनवच्छिन्न होकर सार्वभौम अवस्था को महाव्रत कहते है। जैसे अहिंसा का मत्स्य हिंसक मत्स्य का ही हिंसा करे अन्यों का नहीं, यह जाति से युक्त हिंसा है। तीर्थक्षेत्र में हिंसा नहीं करूंगा, यह देश से अवच्छिन्न हिंसा है। चतुर्दशी को

---

[7] अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। 2.35

[8] सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।२.३६

[9] अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थापनम्।२.३७

[10] ब्रहमचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।२.३८

[11] अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः।

अथवा पवित्र दिन में हिंसा नहीं करूंगा इस प्रकार की प्रतिज्ञा काल से अवच्छिन्न हिंसा है। इसी प्रकार से देव आदि के लिये हिंसा करूंगा इस प्रकार की हिंसा समयावच्छिन्न हिंसा कहलाती है। इन चारों प्रकार से अनवच्छिन्न हिंसा को ही महाव्रत के नाम से व्यवहार करते हैं। जाति से अवच्छिन्न हिंसा, देश से अवच्छिन्न हिंसा, काल से अवच्छिन्न हिंसा और समय से अवच्छिन्न हिंसा योग के विघ्नकारक है, इसलिये सर्वथा इन हिंसा का परित्याग करना अहिंसा कहलाती है।

सत्य को जाति, देश, काल और समय से अनवच्छिन्न होना चाहिये। सत्य यदि जाति अर्थात् राजदूत के समक्ष सत्य नहीं बोलूंगा अन्यत्र सत्य बोलूंगा यह जाति से अवच्छिन्न सत्य है। देश से अवच्छिन्न सत्य अर्थात् न्यायालय आदि में सत्य नहीं बोलूंगा अन्यत्र सत्य बोलूंगा यह जाति से अवच्छिन्न सत्य है। पुण्यतिथि में असत्य नहीं बोलूंगा अन्य तिथियों में बोलूंगा, यह काल से अवच्छिन्न सत्य है। देवता के साक्षि होने पर असत्य नहीं बोलूंगा, यह समय से अवच्छिन्न सत्य का प्रकार है। इन सभी से अनवच्छिन्न सत्य को महाव्रत के नाम से जानते है।

इसी प्रकार से स्तेय को भी जाति, देश काल और समय से अनवच्छिन्न होना चाहिये। जैसे सुवर्ण आदि द्रव्यों का ही हरण करता हूं अन्य का नहीं, यह जाति से अवच्छिन्न स्तेय है। देवमन्दिर आदि में स्तेय नहीं करूंगा, यह देश से अवच्छिन्न स्तेय है। पुण्य तिथि में स्तेय नहीं करूंगा यह काल से अवच्छिन्न स्तेय है और दुर्भिक्ष के समय स्तेय करुंगा बिना दुर्भिक्ष को स्तेय नहीं करुंगा यह समय से अवच्छिन्न स्तेय है। इन सभी प्रकार के जाति, देश, काल और समय से अनवच्छिन्न स्तेय को महाव्रत के अन्तर्गत समझना चाहिये। इसी प्रकार से ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को भी समझना चाहिये।[12]

नियम

योग के द्वितीय अंग का नाम नियम कहलाता है। यह नियम एक प्रकार से प्रतिदिन अपने लौकिक एवं पारलौकिक शुद्धि के लिये किये जाने वाली नित्य क्रिया है। यह पांच प्रकार से है– शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वरप्रणिधान।[13]

शौच

नियम के प्रथम भेद का नाम शौच है। शौच दो प्रकार से है, बाह्य एवं आभ्यन्तर। बाह्यशौच मिट्टी एवं जल के द्वारा शरीरों के अवयवों की शुद्धि होती है, जलस्थान से शरीरशुद्धि एवं मृतिकामिश्रित गोमय के द्वारा स्थलशुद्धि होती है। आभ्यन्तरशुद्धि के अन्तर्गत – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश ये पांच क्लेश और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान, मात्सर्य, अहंकार, ईर्ष्या, असूया, आदि ये दोष चित्त के कषाय कहे जाते हैं, इन चित्त के मलों का प्रक्षालन आभ्यन्तर शौच कहा जाता है। अन्तकरण के जो भी दोष है उनका प्रक्षालन आन्तर शौच कहा जाता है।[14] इसी प्रकार से इन्द्रियों के जो शब्दादि मायिक विषयों की अनुपतित्व रूप दोष है उनका निरोध भी आन्तर शौच कहलाता है। इसी प्रकार से अन्तःकरण (मन, बुद्धि और अहङ्कार) और इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय) के जो दोष है उनका प्रक्षालन करना भी आन्तर शौच के अन्तर्गत है। इसी प्रकार से आत्मा में जो अनादि काल से अशुभ वासना जो कि बीज भाव में विद्यमान रहते हैं। उनका निरोध भी आन्तर शौच कहलाता है।

---

[12] जातिदेशकालसमयानच्छिनारू सार्वभौमारू महाव्रतम॥ २.३० योगसूत्र

[13] शैचसन्तोषतपरूस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।२.३२

[14] सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रेन्दियजयात्मदर्शनभोग्यत्वानि च।। २.४६

सन्तोष

द्वितीय नियम का नाम सन्तोष है। स्वकीय जीवन के प्राणनिर्वाह से अत्यधिक साधन के प्रति इच्छा की उत्पत्ति नहीं होना ही सन्तोष है। सन्तोष करने से अनुत्तम सुख का लाभ होता है।[15] अपने लिये अपेक्षित पदार्थ से अतिरिक्त और अपने धर्म के अविरूद्ध अत्यावश्यक प्राण निर्वाह से अतिरिक्त सन्निहित साधन से अतिरिक्त अधिक का संग्रह नहीं करना ही तृप्ति कहलाता था। इसी तृप्ति को सन्तोष के नाम से भी जाना जाता है।

तप

तृतीय नियम का नाम तप है, तप कई प्रकार से होता है, इनमें प्रमुख कृच्छान्द्रायणादि है, इसी प्रकार से ग्रीष्मकाल में पञ्चाग्नितप, वर्षाकाल में जलधारा में निवास, शीतकाल में जल के मध्य में उपवेशन और निर्वस्त्र उत्कल का धारण करना, वन में निवास, इस प्रकार से अनेक उपायों द्वारा इन्द्रियों को निर्बल तप के द्वारा किया जाता है। गीता में भी तीन प्रकार से तप का वर्णन किया गया है, शारीरिक, वाचिक और मानसिक। इसी प्रकार से एक श्लोक प्राप्त होता है कि–

श्देवद्विजगुरुप्रान पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रहमचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च तत्।
स्वाध्यायाऽभ्यसनं चौव वाड्मयं तप उच्यते।।
मनरू प्रासाद सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानससमुच्यते।।

तप के द्वारा शरीर, इन्द्रिय की शुद्धि होती है और अशुद्धि का नाश होता है।[16]

स्वाध्याय

चतुर्थ नियम का नाम स्वाध्याय है। मोक्ष प्रतिपादक शास्त्रों का अध्ययन, प्रणवादि ओंकार वाचक मन्त्रों का जप करना स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय करने से इष्ट देवता की प्रसन्नता एवं उनका साक्षात्कार होता है।[17] प्रणव आदि पवित्र भगवत् नाम के द्वारा श्रीहरि के प्रतिपादक पुरुष सूक्त आदि वैदिक मन्त्रों का पाठ भी स्वाध्याय के अन्तर्गत ही आता है अर्थात वेद के अनुकूल शास्त्रों का परिशीलन करना ही स्वाध्याय है। वेद परब्रह्म के आराधना भूत कर्म के प्रतिपादन, आराध्यभूत परब्रह्म स्वरूप के उपासन प्रतिपादन और परायण करना। उसका बृंहण भूत स्मृति इतिहासादि शास्त्र का अध्ययन। स्मृति इतिहास आदि में प्रतिपादित अर्थों का अनवरत रूप से परिशीलन करना भी स्वाध्याय है। जैसे–जैसे पुरूष नित्य प्रति शास्त्रों का अध्ययन करता है वैसे वैसे उसको नये नये तत्वों का विज्ञान होता है जिससे उसके ज्ञान की ज्योति निरन्तर प्रदीप्त होती रहती है। जिस मुमुक्षु की जितनी मेधाशक्ति रहती है उस उस प्रकार से वेदाध्ययन मन्त्र जपादि करना चाहिये। जिसकी मेधा शक्ति के नहीं होने से वेदादि की परिशीलनयोग्यता नहीं होने पर उसको परमेश्वर के वाचक प्रणव ओंकर का जप कीर्तन द्वारा भक्ति का विधान करना चाहिये।

---

[15] सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः। २.५२

[16] कायेन्द्रियशुदिरशुदिक्षयात्तपसः।२.४३

[17] स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। 2.44

ईश्वरप्रणिधान

पांचवा एवं अन्तिम नियम ईश्वरप्रणिधान है। परमेश्वर को सभी प्रकार के कर्मों के समर्पण का नाम ईश्वरप्रणिधान है। ईश्वर की अराधना एवं उनकी भक्ति को भी प्रणिधान कहा जाता है। ईश्वरप्रणिधान करने से समाधि की सिद्धि होती हैं।[18] सभी प्रकार के पातकों के नाशक विवेकख्याति के द्वारा परमेश्वर के आश्रय से परम मुक्ति की प्राप्ति होती है। गीता में भी भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है कि हे अर्जुन जो कुछ भी करते हो, जो कुछ भी खाते हो, जो कुछ भी यज्ञ करते हो, जो कुछ भी दान करते हो, जो कुछ भी तप करते है वो सब मुझे अर्पित करो।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व पदर्पणम॥

ईश्वरप्रणिधान के द्वारा भी समाधि की सिद्धि होती है अथवा समाधि के फल का लाभ प्राप्त हो जाता है। साधक के लिये स्वेष्ट परमेश्वर स्वरूप का दिव्यदर्शन अत्यन्त समुपयोगी होता है। दिव्यदर्शन के होने के पश्चात् साधक परमेश्वर से स्वयं अभिन्न समझता है जिससे योगी स्वयं भी ब्रह्मात्मभूत ज्ञात करता है। ईश्वर प्रणिधान के सिद्ध होने पर जिस क्रियावस्तु आदि की प्राप्ति करने की इच्छा होने पर उसकी प्राप्ति सुगमता पूर्वक हो जाती है। समाधि की सिद्धि होने पर देशान्तर, देहान्तर अथवा कालान्तर में सभी स्वेप्सित वस्तु की सफलता प्राप्त करता है जिससे योगी अन्तर्यामी हो जाता है।

आसन

योग के तृतीय अंग का नाम आसन है। आसन का स्वरूप महर्षि पतञ्जलि बताते हैं कि स्थिरता और सुख ये दोनो जिस अवस्था में हो वह आसन है।[19] यह आसन अनेक प्रकार से हैं, जैसे सिद्धासन, पद्मासन आदि। वस्तुतः जितने भी जीव है उतने प्रकार के आसन भी होते है। ये आसन अनेक प्रकार के व्यापार अथवा प्रयास के द्वारा, शिथिलता के समाप्ति आदि के द्वारा ये आसन दृढ होते हैं।[20] बहुविध व्यापार के अनन्तर यदि आसन किया जाये तब अङ्गों के कम्पन होने से आसन की स्थिरता नहीं होती है, जिससे प्रयत्न के उपरम होने से अङ्गमेजय भी नहीं हो सकता। अनेक प्रकार से आसन करते हैं तब अङ्गों में कम्पन आदि नहीं होने से आसन में स्थिरता एवं सुख ये अतिरिक्त विशेष लाभ भी होते हैं। प्रयत्नपूर्वक आसन करने से अङ्गमेजय नहीं होता है। इन आसनों की संख्या अनन्त है किन्तु फिर भी कहा गया है कि जितने जीवों की संख्या है उतने ही आसनों की भी संख्या है। इस तरह 84 लाख आसनों की संख्या बताई गई है। आसनों की सिद्धि हो जाने के पश्चात् शीतोष्णादि द्वन्द्व की अनुभूति नहीं होती है, यह आसन का सामान्य फल है।[21]

प्रणायाम

योग के आठों अंगों में से चतुर्थ अंग का नाम प्रणायाम है। प्राणायाम का लक्षण योगसूत्रकार कहते है कि आसन एवं धौती आदि छह कर्मों को जीत लेने के पश्चात्

---

[18] समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। २.४५

[19] स्थिरसुखमासनम्, २.४६

[20] प्रयत्नशैथिल्याऽनन्तसमापत्तिभ्याम्।२.४७

[21] ततो द्वन्द्वानभिघातः।२.४८

श्वास अर्थात् वायु का अन्दर ग्रहण एवं प्रश्वास अर्थात् वायु का शरीर से बाहर निकालने की सामान्य गति का विच्छेद करना ही प्राणायाम कहलाता है। श्वास का अर्थ बाह्य वायु का नासिका द्वारा आचमन और अन्तःस्थ वायु का बहिर्निसारण को यह प्रश्वास कहते हैं।[22]

प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति एवं स्तम्भवृत्ति के भेद से तीन प्रकार का है। बाह्यवृत्ति का नाम रेचक कहलाता है, इसमें वायु को शरीर से बाहर निकालते हैं। आभ्यन्तरवृत्ति का नाम पूरक है, इसमें बाह्य वायु को उदर में स्थापित किया जाता है। स्तम्भवृत्ति का नाम कुम्भक है। इस कुम्भक में श्वास और प्रश्वास इन दोनों वृत्तियों की रोक दिया जाता है, कुम्भक विधारक प्रयत्न के द्वारा सम्पादित किया जाता है, इसको स्थापित करने में रेचक पूरक के प्रयत्नों की अपेक्षा नहीं रहती है।

रेचक पूरक एवं कुम्भक यह तीनों प्रकार का प्रणायाम देश, काल और संख्या के भेद से तीन–तीन प्रकार का है। केवल कुम्भक स्वरूप प्राणायाम का चतुर्थ भेद भी होता है। रेचक और पूरक इन दोनों का अतिक्रमण करते हुऐ केवल कुम्भक प्राणायाम को ही चतुर्थ केवलकुम्भक कहते हैं।[23]

प्राणायाम करने से विवेक ज्ञान के आवरण अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्यादि का नाश होता है।[24] प्राणायाम के अभ्यास करने से मनरूपी अन्तःकरण को धारणा करने का सामर्थ्य विकसित होता है, प्राणायाम के द्वारा मन स्थिर होत है और धारणा की योग्यता उत्पन्न होती है।[25]

प्रत्याहार

योग के पांचवें अंग प्रत्याहार का स्वरूप महर्षि पतञ्जलि प्रतिपादित करते हैं कि मोहनीय विषयों के साथ जब चित्त सम्पृक्त नहीं होता है तब इन्द्रिय और अन्तःकरण का भी विषयों के साथ सम्पर्क नहीं रहता है, इस अवस्था में चित्त का जो स्वरुप रहता है उसी स्वरूप में इन्द्रियों का भी स्वरूप हो जाता है। उस अवस्था में इन्द्रियां भी चित्त में अभिनिवेशित रहती है और इन्द्रियों का स्वरूप चित्त के स्वरूप में परिवर्तित हो जाता है। जब इन्द्रियों को विषय देशों से हटाकर चित्त के स्वरूप में परिवर्तित किया जाता तब वह अवस्था प्रत्याहार है।[26] जैसे इन्द्रियों का स्वभाव विषय देश तक जाकर उसके स्वरूप में परिणत होना है, चक्षुरादि इन्द्रिय घटादिविषय देश तक जाकर घट के स्वरूप में परिणत होना है, चक्षुरादि इन्द्रिय घटादिविषय देश तक जाकर घट के स्वरुप में परिणत होती है, उस अवस्था में इन्द्रियाँ प्रकृति के सत् आकार में परिणत होती है, जब इन विषयों से इन्दियाँ को हटाकर चित्त के स्वरूप में परिणात किया जाता है तब इन्द्रियों का आकार चित्त के स्वरुप में परिणत होता है।

प्रत्याहार की सिद्धि होने के पश्चात् मनुष्य इन्द्रियों को जीत सकता है, इन्द्रियों को जीतने वाला मनुष्य ही विवेकज्ञान का अधिकारी हो सकता है।[27] गीता में भगवान्

---

[22] बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिरूपरिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।२.५०

[23] बाह्याऽभ्यन्तरविषयाऽक्षेपी चतुर्थः।२.५१

[24] ततरूक्षीयते प्रकाशावरणम्। २.५२

[25] धारणासु च योग्यता मनसः।२.५३

[26] स्वविषयाऽसंप्रयोगे चित्तस्वरुपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। २.५४

[27] ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्, २.५५

श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि जिसकी इन्द्रियां वश में है उसके अन्दर प्रज्ञा प्रतिष्ठित होता है।[28]

'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।'

इन्द्रियों को जीतने का अभिप्राय यह है कि योग मार्ग के विघ्न उत्पन्न नहीं करने वाले पदार्थों का आलोचन करने से है अर्थात् जो पदार्थ योग के प्राति के सहायक होते हैं उन्हीं का इन्द्रियों के द्वारा आलम्बन करना ही इन्द्रियों की स्वाधीनता है। साधक को इन्द्रियों के उपर नियन्त्रण परम आवश्यक है। इन्द्रियों का नियन्त्रण होना ही प्रत्याहार का फल है।

अभी तक विवेचित योग के पाँचों अंगों को बहिरङ्ग कहा जाता है, क्योंकि प्रायः इनकी सिद्धि बाह्य इन्द्रियों के द्वारा होती है।

धारणा

इन बहिरङ्गों की सिद्धि करने के पश्चात् योग के आठों अंगों में से तीन अन्तरङ में से प्रथम अङ्ग धारणा का स्वरूप महर्षि बाते है कि देश अथवा स्थान विशेष में चिन्तन अथवा ध्यान स्थापित करने को ही ध्यान कहते हैं। उस ध्यान के आधार देश में चित्त अर्थात् मन, बुद्धि एवं अहंकार को बांधने को धारणा कहते है। स्थूल अथवा सूक्ष्म किसी भी विषय को अवलम्बन करके अन्तःकरण के वृत्ति को स्थिर करना ही धारणा है।[29] ध्यान एवं समाधि का कारण धारणा है। देश विशेष कहने का तात्पर्य उन अंगों से है जिनके द्वारा चित्त को एकाग्र किया जा सकता है, जैसे नाभिचक्र देश, हृदयदेश, मूर्ध्ना, पर्वतमस्तक आदि।[30] प्राणायाम के स्थिर होने पर सच्चिदानन्दब्रह्म के प्राप्ति के उपाय स्वरूप सुषुम्णा के अग्रभाग में सुषुम्णा द्वार को आवृत्त करके सुप्ता जो कि ईश्वरी नामक कुण्डली है उसको जागृत करने के लिये महामुद्रादि का अभ्यास करना चाहिये। जैसे पर्वत, वन आदि का आधार अहिनायक है वैसे सभी योगतन्त्रों का आधार ही कुण्डली है। गुरु के प्रसाद के द्वारा जब कुण्डली जागृत होती है तब सभी ग्रन्थियां उद्घाटित हो जाती है। धारणा क्रमशः ध्यान एवं समाधि का पूर्वरूप होने से यह उनके प्रति कारण भी है।

धारणा के सिद्ध होने के पश्चात् ही ध्यान और समाधि की सिद्धि सम्भव है, अतः धारणा का फल ध्यान और समाधि में सहायक होना ही है।

ध्यान

योग के सप्तम अंग के विषय में कहते हैं कि जिन देश में धारणा किया जाता है अर्थात् हृदय, नाभिचक्र, मूर्ध्ना और पर्वतमस्तक आदि देश में ही प्रत्यय अर्थात् चित्त की वृतियों के विसदृश परिणाम को परिहार करते हुऐ अर्थात् नासाग्रादि ध्येयाकार वृतिप्रवाह जो वृत्यन्तर मे व्यवहित हो और प्राण वृतियों के एक विषयता को ध्यान कहा जाता है।[31] सम्प्रज्ञात समाधि के प्रति ध्यान के प्रमुख कारण होने से ध्यान का फल समाधि की सिद्धि है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि देशावस्थिति को लक्ष्य स्वीकार करके बुद्धि की जो वृत्तिसन्तान है यदि वह किसी अन्य वृत्यन्तर से संस्पृष्ट

---

[28] वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्टिता॥ गीता

[29] देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।३.१

[30] ह्त्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्धि पर्वतमस्तके। एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम्॥

[31] तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।३.२

नहीं होती है उसको ध्यान कहा जाता है

देशावस्थितिमालक्ष्य बुद्धेर्या वृत्तिसंततिरू।

वृत्यन्तरैरसंस्पृष्टा तध्यानं सूरयो विदुरू॥

ध्यान भी आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से दो प्रकार का होता है।

समाधि

योग के अन्तिम अङ्ग एवं अन्य सभी अङ्गों के साध्य समाधि का लक्षण सूत्रकार कहते हैं कि वह ध्यान ही अर्थमात्र अर्थात् ध्येय मात्र के स्वरूप में परिणत होकर साक्षि द्रष्टा में प्रतिभासित होता है, उस अवस्था में यहं विषयक वृत्ति भी नहीं रहती है, ऐसी अवस्था वृत्यन्तररहित होने से स्वरूपशून्य हो जाती है। ध्येयस्वरूपाकारमात्र प्रतिभासित होता है।

जब चित्त की वृत्ति ध्येयमात्र स्वरूप में परिणत हो जाये ऐसी अवस्था को समाधि कहते हैं।[32] ध्यातृ, ध्यान एवं ध्येय इन त्रितय स्वरूपविषयक वृत्ति जब प्रतिभासित होती है उस अवस्था को ध्यान कहते हैं और जब वृत्ति ध्यातृ, ध्यान एवं ध्येय इन त्रितय स्वरूप से रहित होने को समाधि कहते हैं। वस्तुतः ध्यान ही समाधि स्वरूप में परिणत हो जाता है। यह समाधि सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात के भेद में दो प्रकार की है।

सम्प्रज्ञात

चित्त की वृत्तियां एकाग्रतावस्था में सात्विकवृत्ति के प्रवाहमान होने पर वृत्यन्तर से व्यवधान हुये बिना दीपक के समान अचल स्थिति में रहती है। इस अवस्था में रज एवं तमोगुण की वृत्तियां अभिभूत होकर सात्विक गुणों की वृत्ति सर्वदा प्रवाहित रहती है। यह सम्प्रज्ञात समाधि वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता के भेद से चार प्रकार का है।[33] वस्तुतः सम्प्रज्ञात के ये चार अङ्ग है और अङ्गी सम्प्रज्ञात है। इनमें से प्रथम वितर्क का तात्पर्य विशेष अर्थात् स्थूल पदार्थों का तर्क अर्थात् आधार हो जिस समाधि में। इन स्थूल पदार्थों के साथ सहकृत विरोध को सवितर्क कहा जाता है। स्थूल पदार्थों का अवलम्बन करके चित्त के एकाग्रता का सम्पादन करने वाले और अन्य वृत्तियों का निरोध होना ही सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि है।

सविचार सम्प्रज्ञात समाधि में सूक्ष्मवस्तुओं का अवलम्बन करके चित्त की वृत्तियों के एकाग्रता का सम्पादन किया जाता है। वस्तुओं को अवलम्बन करने के अनन्तर सूक्ष्म वस्तुयों को आधार बनाकर वृत्तियों का विरोध सविचार सम्प्रज्ञात समाधि है। इस समाधि में सूक्ष्म तत्त्व प्रकृति, महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्र एवं इन्द्रिय आदि तत्त्वों को लक्ष्य बनाकर चित्त की एकाग्रता सम्पादित होती है।

सम्प्रज्ञात समाधि के तृतीय भेद आनन्दसमाधि में सूक्ष्म पदार्थों का परित्याग करके सात्विक अहंकार से समुत्पन्न इन्द्रियों के कारणभूत सात्विक अहंकार सत्त्व प्रधान होने से आनन्दात्मक–अहङ्कार को लक्ष्य बनाकर चित्त को अन्य सूक्ष्म पदार्थों से हटाकर एकाग्र किया जाता है। अहङ्कार से अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के आकार में वृत्तियों का निरोध करके केवल अहंकार के आकार में आकारित किया जाता है।

---

[32] तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। ३.३

[33] वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुरामात्सम्प्रज्ञातः। १.१७

सम्प्रज्ञात समाधि के चतुर्थ भेद अस्मिता समाधि में चित्त की वृत्तियों को आनन्द से हटाकर अहंकार के कारण बुद्धि अर्थात् महत् के के आकार में आकारित किया जाता है। चित्तवृत्तियां महत् से अन्य तत्त्वों के साथ निरुद्ध हो जाती है, अतः महत् के साथ द्रष्टा संयोग होने से अभेद अर्थात् एक स्वरूप होना अस्मिता है और महत् के आकार में आकारित होने के यह समाधि अस्मिता कहलाती है। इस प्रकार से चित्त की वृत्तियां स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम विषयों के साथ सम्पृक्त अर्थात् इन विषयों को लक्ष्य बनाकर अन्य विषयों के वृत्तियों का निरोध ही सम्प्रज्ञात समाधि है।

असम्प्रज्ञात

जब सभी प्रकार के वृत्तियों के निरोध का कारण गुणवितृष्णाख्य परवैराग्य का अभ्यासपूर्वक समाधि असम्प्रज्ञात समाधि होती है। इस समाधि में सभी प्रकार के वृत्तियों का विरोध हो जाता है, केवल संस्कार मात्र ही अवशिष्ट होता है, वृत्तियों के समाप्त हो जाने पर भी प्रारब्धसंस्कार का लेश विद्यमान रहता है।[34] यह समाधि निरुध्दावस्था में ही सम्भव है। असम्प्रज्ञात समाधि के प्रति सम्प्रज्ञात की कारणता साक्षात् नहीं होती है क्योंकि सम्प्रज्ञात में वृत्तियों का सर्वथा लय नहीं रहता है और असम्प्रज्ञात में वृत्तियों का सर्वथा लय हो जाता है। इसलिये वृत्तियों के निरोध के लिये परवैराग्य की अपेक्षा होती है। परवैराग्य से वृत्तियां जल जाती है। इसलिये यहां किसी प्रकार के स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मता एवं सूक्ष्मतम विषयों का सम्प्रज्ञात नहीं होने से यह असम्प्रज्ञात समाधि है। सभी प्रकार के बीजों के समाप्त होने के कारण यह निर्बीज समाधि भी कहलाती है।

इस प्रकार संक्षिप्त रुप से योग के आठों अङ्गों का निरुपण किया गया।

20.3 सारांश

आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक इन तीनों प्रकार के दुःखों से निवृत्ति चित्त की वृत्तियों के निरोध द्वारा सम्भव है। चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग कहलाता है। योग के समस्त अंग जिनको अष्टांग योग कहते हैं, इनके द्वारा क्रमशः बाह्य और अन्तः दोनों प्रकार की शुद्धियों को सम्पादित किया जाता है। यम के द्वारा अन्तः विद्यमान क्लेशों का उपशमन किया जाता है। नियम के द्वारा प्राणी बाह्यशुद्धि के साथ–साथ ईश्वर प्राणिधान द्वारा समाधि की सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। आसन के द्वारा शरीर को सशक्त एवं मन को स्थिर किया जाता है। प्राणायाम के द्वारा भी मन स्थिर होता है। प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को नियन्त्रित किया जाता है। धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों के द्वारा मन, बुद्धि और अहंकार की निर्मलता होती है। योग का अर्थ महर्षि व्यास ने समाधि बताया है। अंतः योग के चरम अंग समाधि की सिद्धि ही सही अर्थ में योग है। अतः इन सभी आठों प्रकार के अंगों सिद्धि योग है।

20.4 शब्दावली

१. योग – प्राचीन साधना पद्धति

२. अनुशासन – नियमयुक्त आचरण

३. चित्त – मन, बुद्धि और अहङ्कार

४. वृत्ति – चित्त के व्यापार

[34] विरामप्रत्ययाऽभ्यासपूर्वरूसंस्कारशेषोऽन्यः। १.१८

५. विवेक ख्याति – प्रकृति–पुरुष का विविच्यज्ञान

20.5 बोध/अभ्यास प्रश्न

योगदर्शन के बहिरंग एवं अन्तरङ्गों का संक्षिप्त वर्णन करें।

अष्टांग योग के फलों का वर्णन करें।

यम और नियम का विवेचन करके उनके पार्थक्य की सिद्धि करें।

प्राणायाम और प्रत्याहार का विवेचन करने के पश्चात उनके भेद की स्थापना करे।

ध्यान और समाधि का विवेचन के अनन्तर दोनों में भेद स्थापित करे।

20.6 सन्दर्भग्रन्थसूची

पातंजल योगसूत्र, व्याख्याकार, श्रीनन्दलाल दशोरा, हरिद्वार रणधीर प्रकाशन १९९७ ।

योगदर्शन, प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या (व्याख्याकार, स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी, मुम्बई, श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट।

योगदर्शन, व्याख्याकार, पं. राजाराम प्रोफेसर लाहौर साहित्य प्रचारक मण्डल, १९२२।
पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्याख्याकार डॉ सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।

पातञ्जल योगदर्शनम् व्याख्याकार श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी विज्ञानाश्रम अजमेर, दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस १९३२ ।

योगतत्त्वाङ्क, कल्याण विशेषाङ्क, गीताप्रेस गोरखपुर, वर्ष १९९९ ।

पातञ्जल योगसूत्र) बंगाली बाबा व्याख्या (, हिन्दी अनुवादक कुमारी वृजरानी देवी, पूना एन. आर. भार्गव, १९४८ ।

योगदर्शन समीक्षा लेखक पं श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, वाराणसी, कृष्णदास अकादमी, १९९७

भारतीय दर्शन के मूल तत्त्व, लेखक – एम.हिरियन्ना, अनु प्रकाश नारायण शर्मा, सेन्ट्रल बुक डिपो, १९५४ ।

भारतीय दर्शन की रूपरेखा, लेखक प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, १९७४ ।

भारतीय दर्शन, लेखक आचार्य बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, चौखम्भा ओरियन्टालिया १९७६।

भारतीय दर्शन, लेखक – वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद लोकभारती प्रकाशन २००६।

भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, लेखक – चन्द्रधर शर्मा दिल्ली मोतीलाल बनारसीदास, २०१०।

वेदान्तसार, (बदरीनाथ शुक्ल विरचित हिन्दी व्याख्या एवं रामतीर्थयति विरचित विद्वन्मनोरञ्जनी टीका सहित) सदानन्द. सम्प. बदरीनाथ शुक्ल. वाराणसी मोतीलाल बनारसीदास, १९७९.

सर्वसिद्धान्तसंग्रह, शंकराचार्य. सम्प. सूर्यनारायण शुक्ल. वाराणसी काशी विश्वनाथ प्रेस,

सर्वदर्शनसंग्रह, (अभ्यकरवासुदेव शास्त्रि द्वारा दर्शनाकुर व्याख्या सहित) सम्प. वासुदेव शास्त्री अभ्यकर. प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिर, (निर्णयसागर) १६२४.

सांख्यतत्त्वकौमुदी, (गजाननशास्त्री मुसलगांवकर विरचित हिन्दी व्याख्या सहित) वाचस्पति मिश्र. वाराणसी चौखम्भा संस्कृत संस्थान, १६६२.

इकाई 21 कैवल्यस्वरूप (कैवल्यपाद, सूत्र 34)

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य

- योग सूत्र के अनुसार कैवल्य का स्वरूप जान सकेंगे।
- विभिन्न शास्त्रों के अनुसार कैवल्य के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
- योग सूत्र के अनुसार कैवल्य की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- कैवल्य के व्युत्पत्तिपरक एवं लक्षणपरक अर्थ को समझ सकेंगे।
- परम पुरुषार्थ रूप कैवल्य की प्राप्ति के उपायों को जान सकेंगे।

२१.१ प्रस्तावना

कैवल्य भारतीय दर्शन एवं योगदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय रहा है। जिसे विभिन्न दर्शनों या विचारधाराओं में मोक्ष, निर्वाण, मुक्ति, अपवर्ग, निःश्रेयस आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है।

मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः।
मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणश्रेयोनिःश्रेयसामृतम्।।[1]

मोक्ष अथवा कैवल्य का सम्बन्ध आत्मा(पुरुष) से है जो भी दर्शन आत्मा को स्वीकार करते हैं वे जीवन के परमपुरुषार्थ के रूप में मोक्ष या कैवल्य को अवश्य मानते हैं।

यद्यपि इसके स्वरूप व प्राप्ति के साधन के विषय में मतभेद अवश्य है किन्तु एक बात सभी दर्शनों में समान है कि कैवल्य दुखों से आत्यन्तिक निवृत्ति की अवस्था है कैवल्य के बाद पुनर्जन्म नहीं होता। कैवल्य ही जीवन का परम लक्ष्य है।

योग दर्शन में मोक्ष को कैवल्य कहा गया है। केवली भावं कैवल्यम् अर्थात् जब पुरुष केवल रूप में अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित होता है तो वह अवस्था कैवल्य कहलाती है। इस अवस्था की प्राप्ति चित्त के शुद्ध निर्मल होकर अज्ञान से निवृत्त होने पर ही सम्भव है जिसके लिए अनेकों प्रकार के योग मार्ग बताये गये हैं।

---

[1] अमरकोश, स्वर्गवर्ग 1/5

प्रस्तुत इकाई में कैवल्य सम्बन्धी इन्हीं सब विचारों का विश्लेषण व व्याख्या की गई है।

भारत में दार्शनिक चिंतन का लक्ष्य जीवन की समस्याओं का समाधान भी है। यहाँ दर्शन सिर्फ बौद्धिक जिज्ञासा की शांति या मानसिक कौतूहल की निवृत्ति न होकर जीवन की समस्याओं को सुलझाना है। अतः भारतीय दर्शन का जीवन से गहरा सम्बन्ध है। इसलिए डॉ. राधाकृष्णन् जी ने कहा है कि भारत में दर्शन जीवन के लिए है। प्रो. मैक्समूलर के शब्दों में भारत में दर्शन बौद्धिक ज्ञान के लिए नहीं बल्कि सर्वोच्च लक्ष्य के लिए था। जिसके लिए मनुष्य इस जीवन में प्रयत्नशील रह सकता है और वह सर्वोच्च लक्ष्य है कैवल्य। कैवल्य/मोक्ष की अत्यधिक प्रधानता होने के कारण ही कुछ विद्वान् भारतीय दर्शन को मोक्ष दर्शन अथवा मोक्षशास्त्र भी कहते हैं।

भारतीय दर्शन की समस्त शाखाओं में दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द प्राप्ति को मोक्ष कहा गया है।

चार्वाक दर्शन में तो देहनाश को ही मोक्ष माना है –

लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापरः स्मृतः।
देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते।।[2]

बौद्धों के मत में यही मोक्ष निर्वाण" पद से जाना जाता है।

क्षणिकाः सर्वसंस्काराः इति या वासनास्थिरा।
स मार्गः इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभीधीयते।।[3]

जैन इसी मोक्ष को आर्हती दशा के रूप में परिभाषित करते हैं।

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षणं मोक्षः ।[4]

न्याय दर्शन मोक्ष को दुखों की आत्यन्तिक निवृत्ति की अवस्था मानते हैं जिसे 'अपवर्ग तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः'[5] इस नाम से अभिहित किया है,

वैशेषिक दर्शन ने मोक्ष को निःश्रेयस कहा है– 'तदभावे संयोगोभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः।'[6]

सांख्य दर्शन इसी कैवल्य (मोक्ष) को सत्वपुरुषान्यताख्याति या प्रकृतिवियोग के नाम से कहता हैं। मीमांसक प्रपंचसम्बन्धविलय कहते हैं।

वेदान्त में इसी का नाम ब्रह्मपदावाप्ति है। शंकराचार्य ने मोक्ष के तीन लक्षण बताये हैं–

1. मोक्ष अविद्या–निवृत्ति है (अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः)
2. मोक्ष ब्रह्मभाव या ब्रह्मसाक्षात्कार है (ब्रह्मभावश्च मोक्षः)
3. मोक्ष नित्य अशरीत्व है। (नित्यशरीरत्वं मोक्षाख्यम्)

योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने इसी मोक्ष को स्वरूपावस्थान या कैवल्य कहा है।

---

[2] सर्वदर्शनसंग्रह पृ. 9
[3] सर्वदर्शनसंग्रह
[4] तत्त्वार्थसूत्र 10/02
[5] न्याय सूत्र 1 / 1 / 22
[6] वैशेषिक सूत्र 5/2/18

योगदर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप में अवस्थान ही कैवल्य कहलाता है तथा मोक्ष की शास्त्रीय संज्ञा ही कैवल्य है। मोक्षावस्था में जीवात्मा निजस्वरूप में अवस्थित होता है, यह स्वरूपावस्थान ही कैवल्य है (तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्)

मोक्ष का सामान्य अर्थ दुखों का विनाश है। दुखों के आत्यन्तिक निवृत्ति को ही मोक्ष या कैवल्य कहते हैं। प्रायः सभी भारतीय दर्शन यह मानते हैं कि संसार दुखमय है। दुखों से भरा हुआ है। किन्तु ये दुख अनायास नहीं है, इन दुखों का कारण है। उस कारण को समाप्त करके हम सभी प्रकार के दुखों से मुक्त हो सकते हैं। दुख मुक्ति की यह अवस्था ही मोक्ष है, निर्वाण है, अपवर्ग है, कैवल्य है और यही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। जब तक इस लक्ष्य की प्राप्ति नही हो जाती तब तक संसार में जन्म मरण का चक्र चलता रहेगा और जीव दुख भोगता रहेगा। भारतीय दर्शन सिर्फ मोक्ष की सैद्धान्तिक चर्चा ही नहीं करता बल्कि उसकी प्राप्ति के व्यावहारिक उपाय भी बताता है इसीलिए भारतीय दर्शन कोरा सैद्धान्तिक दर्शन न होकर एक व्यावहारिक दर्शन है। यद्यपि विभिन्न दर्शनों में मोक्ष के स्वरूप एवं उसके प्राप्ति के उपाय को लेकर मतभेद है। मतभेद होने पर भी कुछ विषयों पर सभी दर्शन एकमत दिखाई देते हैं जैसे कि–

1. मोक्ष दुःखों की पूर्ण निवृत्ति है।
2. मोक्ष ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।
3. इस लक्ष्य को इसी जीवन में पाया जा सकता है।
4. मोक्ष जन्म मरण चक्र का समाप्त हो जाना है।

21.2 कैवल्यस्वरूप

महर्षि पतंजलि ने मोक्ष के लिये कैवल्य शब्द का निर्धारण किया है। योग सूत्र में उन्होंने मुक्ति, मोक्ष या सांख्य दर्शन की तरह अपवर्ग शब्द का प्रयोग न करते हुए बार–बार कैवल्य शब्द का ही प्रयोग किया है। कैवल्य शब्द मोक्ष और अपवर्ग का पर्यायवाची होते हुए भी इनसे कुछ विशिष्ट अर्थ अपने में संजोए हुए है। कैवल्य का शब्दार्थ है। केवल वही होना। अर्थात् आत्मा या पुरुष अपने आप मे हो (अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो) और किसी के साथ उसका सम्बन्ध न हो। मुक्ति,मोक्ष, अपवर्ग आदि का विशेष मन्तव्य दुःख निवृत्ति पर है, जबकि कैवल्य का दुःख निवृत्ति के अनन्तर अवस्था विशेष पर ।

महर्षि पतंजलि के योगसूत्र में कैवल्य का स्वरूप निम्नलिखित सूत्रों में वर्णित हुआ है–

1. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् (समाधि पाद 1–3)
2. तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्। (साधनपाद 2–25)
3. सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये केवल्यम् (विभूतिपाद 3–55)
4. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा या चितिशक्तेरिति। (कैवल्य पाद 4/34)

- तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्–

योगसूत्र समाधिपाद के इस प्रथमसूत्र (1–3) में महर्षि ने बताया है कि कैवल्य पुरुष का अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति है। कैवल्यावस्था में पुरुष को अपने वास्तविक

रूप का ज्ञान (विवेक ज्ञान) हो जाता है। जबकि बन्धन की अवस्था में वह प्रकृति एवं उसकी विकृतियों(मन, बुद्धि, अहंकार) को ही (अपना स्वरूप) समझता है और बन्धनग्रस्त होकर दुख भोगता है।

• तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्–

योगसूत्र द्वितीयपाद(साधनपाद) के इस पच्चीसवें सूत्र में पतंजलि कहते हैं कि जब आत्मदर्शन रूप विवेक ज्ञान से अविद्या (अविवेक/अज्ञान)का सर्वथा अभाव हो जाता है तब अज्ञान जनित संयोग का भी अपने आप अभाव हो जाता है, फिर पुरुष का प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं रहता और उसके जन्म मरण आदि सम्पूर्ण दुःखों का सदा के लिए अत्यन्त अभाव हो जाता है तथा पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है,यही उसका कैवल्य है।

• सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्–

विभूतिपाद के इस अन्तिम 55 सूत्र में पतंजलि कैवल्य के विषय में कहते है जब सत्व अर्थात् चित्त में प्रकृति और पुरुष इन दोनों की समान भाव से शुद्धि हो जाती है तब कैवल्य होता है। यहाँ तात्पर्य यह है कि योग साधना से जब चित्त शुद्ध होने लगता है विवेकज्ञान का उदय होने पर बुद्धि अत्यन्त निर्मल होकर अपने कारण में विलीन होने लग जाती है और उधर पुरुष का जो बुद्धि के साथ अज्ञानकृत सम्बन्ध है उसका अभाव होने से एवं उस अज्ञानजन्य मल, विक्षेप, आवरण का अभाव होने से पुरुष भी निर्मल हो जाता है । इस प्रकार जब दोनों की सम भाव से शुद्धि हो जाती है तब कैवल्य होता है। स्पष्ट है कि कैवल्य शुद्ध चित्त की अवस्था भी है। बुद्धि के स्वच्छ अर्थात् क्लिष्ट वृत्ति रहित होने पर बिम्ब के अभाव में प्रतिबिम्ब पडना ही सम्भव नहीं है। यहीं पुरुष का स्वरूप में अवस्थान या उसकी शुद्धि है और यही कैवल्य है। यह जीवनमुक्ति(कैवल्य) की अवस्था है। देहान्त के बाद विदेह कैवल्य या पूर्ण कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए महर्षि पतंजलि अपने योग सूत्र ग्रन्थ के अंतिम कैवल्य पाद के अन्तिम 34वे सूत्र में कैवल्य का सर्वांगपूर्ण वर्णन करते हुए कहते हैं कि–

• पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति–

अर्थात् पुरुषार्थ शून्य गुणों का अपने कारण में विलीन हो जाना ही कैवल्य है। अथवा ऐसा कहें कि चित्त शक्ति(द्रष्टा पुरुष) का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य है। जिनका पुरुष के लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा ऐसे गुणों का अपने कारण में विलीन हो जाना(प्रतिप्रसव) कैवल्य है अथवा चिति शक्ति की अपने शुद्ध असङ्ग कूटस्थ निराश्रय स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना (कैवल्य) है।इस सूत्र में कैवल्य की व्याख्या दो दृष्टियों से की गई है।

1. गुणों की दृष्टि से।
2. पुरुष की दृष्टि से।

अर्थात् गुणों की प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग के सम्पादन करने के लिए है। इसी कार्य को पूर्ण करने के लिए वे बुद्धि अहंकार पंच तन्मात्रा मन इन्द्रिय और शब्दादि विषयों के आकार में परिणत हैं। जिस पुरुष के लिए वे गुण भोग कर अपवर्ग साधन कर देते हैं उसके लिए उनका कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है तब वे कृतार्थ होकर अपने कारण में विलीन हो जाते हैं, यहीं गुणों का कैवल्य और गुणों के साथ दृष्टा पुरुष का अनादि अविद्याकृत संयोग का अभाव हो जाने पर अपने शुद्ध असङ्ग कूटस्थ

निरावरण आनन्दस्वरूप अवस्था में प्रतिष्ठित हो जाना पुरुष का कैवल्य है। ईश्वर के अनुग्रह से शुद्ध होकर जीव नित्य आनन्दस्वरूप ईश्वर को प्राप्त हो जाता है, इसीलिए योग शास्त्र में ईश्वर की उपासना या ईश्वर प्रणिधान का विधान है।

कहने का आशय यह है कि चूंकि गुणों का किसी पुरुष के भोगापवर्ग के सिद्ध कर चुकने के पश्चात् अव्यक्त में विलीन हो जाने को ही कैवल्य कहते हैं, इसीलिये सांख्य–शास्त्र की यह उक्ति भी चरितार्थ हो जाती है–

'तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।।'[7]

अर्थात् कैवल्य बुद्ध्यादि रूप में परिणत गुणों की ही प्रतिप्रसवरूपिणी एक विशेष परिणामधारा को कहते हैं। कैवल्य की उपलब्धि रूपी क्रिया भी पुरुष के द्वारा सम्पादित नहीं की जाती। इस प्रकार पुरुषों का कैवल्य होना केवल उपचार से ही कहा जा सकता है। तत्प्रधानस्य कैवल्यं पुरुषविशेष उपचर्यते।[8] इस प्रकार पुरुष का निष्क्रियत्व अक्षुण्ण है। गुणों की इस स्थिति के फलस्वरूप उनसे इसके पूर्व तक अभिसम्बद्ध पुरुष बिना किसी क्रिया के या अपने में बिना किसी अन्तर, न्यूनता, अधिकता या संस्कार के ही केवली हो जाता है। इस बात को सूत्रकार बड़ी कुशलता से प्रतिपादित करते हैं। स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः स्वस्य रूपे प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्यास्तादृशी स्वरूपप्रतिष्ठा, स्वरूप में ही प्रतिष्ठित चित्ति शक्ति ही कैवल्य है। जैसे स्फटिकमणि का उपरञ्जक जपाकुसुम जब हट गया तो वह स्फटिक अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित दिखायी पड़ने लगता है। वस्तुतः पहले की स्थिति से उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। इसी प्रकार उस पुरुष में भी कोई नयी बात कैवल्य से नहीं होती। बस वह जैसे का तैसा रहता है। उसमें उपचरित होने वाली उपाधि ही हट जाती है। इस उपाधि का विगलन ही कैवल्य है।

प्रसार और संकोच सृष्टि का नियम है। आरम्भ में इस सृष्टि का मूल स्वरूप अव्यक्त था। यह त्रिगुणात्मक था। इन तीन गुणों (सत्व, रजस, तमस) के साथ चेतन तत्व का संयोग होने से उसमें क्रिया, (हलचल) आरम्भ हुई जिसके परिणाम स्वरूप इसमें परिवर्तन आना आरम्भ हुआ तथा इनकी परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया स्वरूप रूपों के बनने का क्रम आरम्भ हुआ जिससे सृष्टि का विस्तार होता चला गया। इसी विस्तार को गुणों का क्रम कहा जाता है जो प्रतिक्षण होता रहता है। सृष्टि का विस्तार काल के अनुसार क्रमिक सुनियोजित एवं सुसम्बद्ध रूप से हो रहा है, इसलिए इसमें एक साम्य एवं सुव्यवस्था है। वह मूल तत्व जो इस समस्त विस्तार का कारण है उसे ब्रह्म कहा जाता है। ब्रह्म का अर्थ ही फैलना है। विज्ञान भी यह मानने लगा है कि यह सृष्टि (ब्रह्माण्ड) फैलती ही जा रही है। एक सीमा के बाद इसमें पुनः संकोच की प्रक्रिया आरम्भ होगी एवं वह अपने मूल स्वरूप में आ जाएगा। योग भी यही कहता है कि इन गुण में समय के अनुसार क्रमिक परिवर्तन होता है जिसे सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया कहते हैं। इसी से सृष्टि का निरन्तर विकास हो रहा है तथा जब यह क्रम बन्द हो जाता है तो सृष्टि पुनः सिमटकर अपने मूल स्वरूप में आ जाती है। इसके बाद पुनः नई सृष्टि का क्रम आरम्भ होता है। योग की यह मान्यता आज वैज्ञानिकों द्वारा भी पुष्ट हो रही है।

---

[7] द्रष्टव्य सांख्यकारिका– 62

[8] मणिप्रभा (सांख्यकारिका टीका)

योगी जब अपने भीतर के इस विस्तार क्रम को रोक देता है तो उसकी समस्त वृत्तियाँ सिमटकर चित्त में विलीन हो जाती हैं। यह चित्त वासना एवं अपनी क्रिया शक्ति के गुण के द्वारा चेतन से संयुक्त होकर विस्तार को प्राप्त होता है। यह सारा अविद्या के कारण होता है। जब योगी इसको तथा चेतन आत्मा को भिन्न–भिन्न भली प्रकार से जान लेता है तो उस अविद्या का नाश हो जाता है जिससे प्रकृति और पुरुष का संयोग हुआ था। इस अविद्या के नाश से ये तीनों गुण पुरुषार्थ हीन हो जाते हैं क्योंकि चेतन के बिना यह जड़ प्रकृति निष्क्रिय ही है। इस स्थिति में यह चित्त अपने गुणों में विलीन हो जाता है अर्थात वह प्रभावहीन हो जाता है जब प्रकृति तत्व उस योगी से पृथक हो जाता है तो शुद्ध चैतन्य आत्मा ही शेष रह जाती है तथा वह अपने इसी स्वरूप में नित्य स्थित रहता है। यहीं उसका वास्तविक स्वरूप है जिसे वह प्राप्त कर लेता है। फिर उसका न कोई जन्म है न मृत्यु वह सदा के लिए ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है। यही उसका कैवल्य अथवा मोक्ष है जहाँ से आया था वहीं पुनः पहुँच गया, यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।[9] सृष्टि की गति वृत्ताकार है इसलिए जहाँ से आरम्भ हुआ था वहाँ पुनः पहुँच जाने से ही वृत्त पूरा होता है। सृष्टि की यह समस्त गति वृत्त की परिधि पर थीं। केन्द्र पर पहुँच जाने पर समस्त गतियाँ समाप्त हो जाती हैं तथा वह स्थिर अवस्था में आकर दृष्टा मात्र रह जाता है। यही कैवल्यावस्था, ईश्वर का धाम, जगत का केन्द्र है। भिन्न वर्णन एवं नाम देने से उसका स्वरूप नहीं बदल जाता। यही चित्त वृत्ति निरोध, परमपद तथा परमानन्द की अवस्था है।

गुणों की प्रवृत्ति पुरुष के भोग (सांसारिक भोग) और अपवर्ग (मोक्ष) के सम्पादन के निमित्त हैं (इन्हीं को शास्त्रों में पुरुषार्थ चतुष्टय– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष कहा गया है)। इसी कार्य के सम्पादन हेतु वे गुण बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रा, मन, इन्द्रियों एवं शब्द आदि विषयों के रूप में क्रमशः परिणत होते हैं। जिनके हेतु ये गुण उनके लौकिक भाग सम्पन्न कराकर मुक्ति का सम्पादन कर देते हैं, उनके लिए फिर गुणों का कोई कार्य शेष नहीं रह जाता। अपना कार्य पूर्ण करके वे अपनी कारणावस्था में लौट जाते हैं अर्थात् गुण अपने कार्य सम्पादन से कृतार्थ होकर प्रतिलोम परिणाम से अपने मूल कारण में विलीन हो जाते हैं, यही गुणों का कैवल्य है। अथवा चिति शक्ति का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है। तात्पर्य यह है कि जब योगी के चित्त की व्युत्थान (सक्रिय) वृत्तियाँ रुक जाती हैं, तब व्युत्थान, समाधि एवं निरोध के संस्कार मन में विलीन हो जाते हैं। मन अपने कारण अस्मिता (अहंकार) में, अस्मिता – महत्तत्त्व (बुद्धि) में एवम् महत्तत्त्व अपने मूल कारण प्रकृति में विलीन हो जाता है। ऐसी स्थिति में चितिशक्ति (चेतन आत्मतत्त्व) का प्रकृति एवं प्रकृति से उत्पन्न महत् आदि तत्त्वों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। यही चितिशक्ति का अपने वास्तविक रूप में प्रतिष्ठित होना है। यही योगी की कैवल्यावस्था है. इसमें गुणों आदि के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। तब वह योगी, जिसने आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है आनन्द स्वरूप परमात्मा से सम्बद्ध होकर दिव्य आनन्द का रसास्वादन किया करता है। योगशास्त्र में ईश्वरप्रणिधान का इसी निमित विधान किया गया है; क्योंकि इसी के माध्यम से वह ईश्वर मिलन की चरमावस्था प्राप्त करता है।

21.2.1 कैवल्य प्राप्ति के उपाय

भारतीय दर्शन सिर्फ सैद्धान्तिक दर्शन न होकर एक व्यावहारिक दर्शन है। इसलिए

---

[9] श्रीमद्भगवद्गीता १५/६

मोक्ष, निर्वाण या कैवल्य की अवधारणा भी व्यवहार से जुड़ी है कैवल्य शब्दमात्र नहीं अपितु व्यावहारिक उपलब्धि है, जिसे प्रयत्न के द्वारा पाया जा सकता है। इस अवस्था तक पहुंचने के लिए ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, हठयोग, राजयोग, अष्टांगयोग एवं क्रियायोग आदि अनेक प्रकार के साधना मार्ग बतलाये गये हैं। साधक अपनी रुचि योग्यता एवं विश्वास के अनुरूप किसी भी मार्ग पर चलकर साधना के नियमों का पालन कर कैवल्य की प्राप्ति कर सकता है।

ज्ञान योग साधना

कैवल्य प्राप्ति हेतु जितने भी योग साधना मार्ग हैं उनमें ज्ञान साधना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब साधक मुख्य रूप से ज्ञान को ही आधार बनाकर कैवल्य की प्राप्ति के लिए साधना करता है तो उसे ज्ञानयोग साधना कहते हैं। अद्वैतवेदान्त दर्शन में मुक्ति (मोक्ष/कैवल्य) के लिए जो योग साधना बताई गई है वह ज्ञान योग साधना ही है। श्री–मद्भगवद्गीता में सांख्य आधारित साधना को भी ज्ञान योग कहा गया है क्योंकि वहाँ (सांख्य में) तत्वों के ज्ञान से मुक्ति (कैवल्य) की प्राप्ति बताई गई है। यह ज्ञान की उच्चतम और अंतिम अवस्था है। जिसके कारण साधक ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है अर्थात् वह ब्रह्म ही हो जाता है।

कर्म योग साधना

प्रायः यह कहा जाता है कि कर्म ही बन्धन के कारण होते हैं क्योंकि व्यक्ति कर्म करता रहता है और कर्म का अच्छा या बुरा फल भोगने के लिए वह जन्म मृत्यु के चक्र में घूमता रहता है। इस प्रकार कर्म करना, उस कर्म से कर्म का संस्कार बनना और फल भोगने का क्रम बना रहता है। इस प्रकार कर्म ही बन्धन का कारण कहा जाता है। किन्तु कर्मयोग कर्म को बन्धन का कारण ही नहीं मानता बल्कि वह इसे मोक्ष का साधन भी मानता है। कर्मयोग साधना के अनुसार कर्म के पीछे भाव महत्त्वपूर्ण होता है। जो कर्म राग, द्वेष आसक्ति की भावना से (फल की इच्छा से) किये जाते हैं, वे अवश्य ही बन्धन का कारण बनते हैं किन्तु जो कर्म कर्त्तव्य भावना से किये जाते हैं अथवा आसक्ति का त्याग कर निष्काम भाव से किये जाते हैं, उनसे कर्म संस्कार नहीं बनते। वे भुने हुए बीज के समान हो जाते हैं, जो उगता नहीं हैं इस प्रकार निष्काम कर्म मोक्ष का मार्ग है।

इस प्रकार कर्म दो रूप है

1. सकाम कर्म– यह बन्धन का कारण है ।
2. निष्काम कर्म– यह मोक्ष का मार्ग है।

गीता में भगवान् कृष्ण ने भी कर्मों की कुशलता को ही योग कहा है

'योगः कर्मसु कौशलम्।'[10]

व्यक्ति एक क्षण भी बिना कर्म किये नही रह सकता। कर्म करना उसका स्वभाव है इसलिए कुशलता के साथ ज्ञानयुक्त कर्म करना ही कर्मयोग कहलाता है, जिस पर चलते हुए अन्त में मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए गीता में कर्मसंन्यास से कर्मयोग को श्रेष्ठ माना गया है।

[10] श्रीमद्भगवद्गीता 2 / 50

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।।[11]

भक्ति योग साधना

सभी योग साधनाओं में भक्तियोग सबसे सरल, सहज, सुगम सर्वसुलभ और सर्वजन प्रिय साधना है जिसका अधिकारी हर कोई भाव प्रधान व्यक्ति बन सकता है। ज्ञानयोग साधक अद्वैतमार्गी श्री शंकराचार्य जी ने भी भक्ति साधना के महत्त्व को बताते हुए कहा है कि—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।।[12]

अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के समस्त साधनाओं में से भक्ति साधना ही सबसे बढ़कर है और अपने स्वरूप का अनुसन्धान करना ही भक्ति कहलाता है।

हठयोग साधना

हठ शब्द ह और ठ इन दो अक्षरों से मिलकर बना है। इसमें हकार का अर्थ सूर्य स्वर या पिंगला नाड़ी से तथा ठकार का अर्थ चन्द्र स्वर या इडा नाडी से लिया गया है। इन दोनों नाड़ियों के मिलन से वायु सुषम्ना नाड़ी में चलने लगती है जिससे मूलाधार में सुप्त कुंडलिनी शक्ति जाग्रत् होकर सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर ऊपर की ओर चलने लगती है और षट् चक्रों का भेदन करती हुई ब्रह्मरंध्र में पहुँचकर ब्रह्म के साथ एकत्व को प्राप्त होती है। यही आत्म और परमात्म तत्त्व का मिलन है। यह मिलन ही योग कहलाता है जिससे कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

हकारेण तु सूर्यः स्यात् ठकारेणेन्दुरुच्यते।
सूर्यचन्द्रमसोरैक्यं श्हठश इत्यभिधीयते।।[13]

अर्थात् हकार से सूर्य तथा ठकार से चन्द्रमा कहा गया है। सूर्य और चन्द्र का ऐक्य होना ही हठ कहलाता है। हठप्रदीपिका के अनुसार हठात् मोक्ष द्वार का उद्घाटन करने वाली साधना पद्धति को हठयोग कहते है—

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या ततो योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्।।[14]

राजयोग साधना

राजयोग साधना को सभी प्रकार की योग साधनाओं का राजा कहा जाता है। हठयोग साधना का प्रारम्भ शरीर के शोधन व नियन्त्रण से होता है, जबकि राजयोग साधना का प्रारम्भ सूक्ष्म शरीर या मन(चित्त) के शोधन/नियन्त्रण से होता है। मन सभी इन्द्रियों का राजा है, इसलिए भी मन संयम प्रधान इस योगसाधना को राजयोग साधना कहा जाता है। राजयोग साधना का प्रमुख ग्रन्थ महर्षि पतंजलि द्वारा रचित योगसूत्र है यही कारण है कि पतंजलि द्वारा बताई गई योग साधनाओं को ही अनुभवी

---

11 श्रीमद्भगवद्गीता 5/2
12 विवेक चूडामणि 32
13 योग शिखोपनिषत् 1/133
14 हठप्रदीपिका 105

योगियों ने राजयोग साधना का नाम दिया है।

स्वामी विवेकानन्द ने महर्षि पतञ्जलि के अष्टांग योग को ही राजयोग कहा है। अष्टांग योग साधना के आठ अंग हैं— १.यम २.नियम ३.आसन ४.प्राणायाम ५.प्रत्याहार ६.धारणा ७.ध्यान ८.समाधि।

प्रारम्भ के पाँच अंग बहिरंग योग कहलाते हैं जबकि अन्तिम तीन अंग(धारणा, ध्यान और समाधि) अन्तरंग योग। कुछ विद्वानों के अनुसार राजयोग साधना के अंग अन्तिम तीन(धारणा,ध्यान एवं समाधि) अंग ही हैं, इन तीनों को एकत्रित रूप में पतंजलि ने संयम कहा है।

त्रयमेकत्र संयमः।[15]

राजयोग साधना को अष्टांगयोग, अन्तरंगयोग, ध्यानयोग, समाधियोग आदि अनेक नामों से जाना जाता है।

इस प्रकार महर्षि पतंजलि के योगसूत्र में वर्णित उपर्युक्त साधनाएं चित्तवृत्तियों के निरोध द्वारा कैवल्य प्राप्ति के श्रेष्ठ उपाय हैं। प्रारम्भिक साधक के लिए अष्टांग योग है, जिसे राजयोग भी कहा गया है। मध्यम साधक के लिए क्रियायोग तथा उत्तम कोटि के समाहित चित्त वाले उच्च स्तरीय साधक के लिए अभ्यास वैराग्य की साधना बताई गयी है। इन साधना मार्गों पर चलने से चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं तथा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है जो कि कैवल्य की अवस्था है।

इस प्रकार कैवल्य प्राप्ति के अनेकों उपाय हैं जिसे अपनाकर मुक्ति, मोक्ष या कैवल्य की अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। यह कोई नई चीज नहीं अपितु अपने वास्तविक स्वरूप का ही बोध, अनुभव या साक्षात्कारमात्र है।

विभिन्न दर्शनों में दार्शनिक दृष्टिकोण में भिन्नता के आधार पर कैवल्य के स्वरूप में भी भिन्नता दिखाई पड़ती है। न्याय वैशेषिक एवं मीमांसा दर्शन आत्मा को स्वभावतः अचेतन मानते हैं। इसलिए इन दर्शनों में मोक्ष की अवस्था में आत्मा अचेतन हो जाती है। इसीलिए ये तीनो दर्शन जीवन्मुक्ति को भी नहीं मानते, केवल विदेह मुक्ति को ही मानते हैं। सांख्य योग दर्शन में आत्मा अर्थात् पुरुष को चैतन्य स्वरूप माना गया है इसलिए इनके अनुसार कैवल्य की अवस्था में आत्मा विशुद्ध चैतन्य स्वरूप होती है किन्तु उसमें आनन्द का अभाव होता है क्योंकि आनन्द सत्वगुण का परिणाम है और आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में त्रिगुणातीत है इसलिए वह मोक्ष (या कैवल्य) की अवस्था सुख दुख के साथ साथ आनन्द से भी रहित मानते है। सांख्य की इस विचार धारा से हटकर अद्वैत वेदान्त आनन्द को आत्मा का स्वरूप बताता है। आत्मा ब्रह्म स्वरूप है और ब्रह्म सत् चित् आनन्द स्वरूप है इसलिए मोक्ष की अवस्था आनन्द से युक्त है। वेदान्त आनन्द को सत्व गुण का परिणाम नहीं मानता बल्कि आत्मा का स्वरूप मानता है। सांख्य योग और अद्वैत वेदान्त में जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति दोनों को स्वीकार किया गया है। शरीर रहते अविद्या के नाश होने पर विवेक ज्ञान के द्वारा मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है, यह जीवन्मुक्ति है तथा शरीर पात (मृत्यु) होने पर विदेह मुक्ति की प्राप्ति होती है। अद्वैत वेदान्त में आत्मा मोक्षावस्था में ब्रह्म में लीन हो जाती है जबकि अन्य मोक्षवादी दर्शनों में आत्मा मोक्ष के बाद अपने वास्तविक

[15] योग सूत्र 3/4

स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हुए अपना अलग अस्तित्व बनाये रखती है। किन्तु कैवल्य के सम्बन्ध में उपर्युक्त मतभेद होते हुए भी जो बाते सभी मोक्षवादी दर्शनों में समान रूप से मिलती है वे है–

1. मोक्ष या कैवल्य दुखों से आत्यन्तिक निवृत्ति की अवस्था है।
2. दुख एवं बन्धन का कारण अज्ञान है इसलिए कैवल्य की प्राप्ति ज्ञान से होती है।
3. कैवल्य या मुक्ति की अवस्था में आत्मा या पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।
4. कैवल्य या मोक्ष के बाद पुनर्जन्म नहीं होता।
5. योगाभ्यास साधना के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय, वैशेषिक एवं मीमांसा दर्शन आत्मा व मोक्ष को सत् मानते है, चित् (चेतन अवस्था) और आनन्द नहीं। सांख्य योग दर्शन सत् के साथ चित् भी मानते हैं किन्तु आनन्द स्वरूप नहीं मानते, जबकि वेदान्त दर्शन सत् और चित् के साथ आनन्द को मानकर मोक्ष (कैवल्य) विचार में पूर्णता ला देता है वास्तव में आनन्द से रहित अवस्था की प्राप्ति कौन चाहेगा?

मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति के जितने भी उपाय (साधन) हैं उनमें महर्षि पंतजलि का अष्टांग योग विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसके आठों अंग व्यक्तिगत उत्कर्ष के साथ साथ सामाजिक उत्कर्ष में भी सहायक है। पंतजलि के अष्टांग योग का प्रभाव प्रत्येक साधना प्रणाली पर परिलक्षित होता है।

नास्तिक दर्शन कहे जाने वाले बौद्ध एवं जैन दर्शनों के मोक्ष मार्ग भी अष्टांग योग से प्रभावित हैं। बौद्ध दर्शन में निर्वाण प्राप्ति हेतु अष्टांगिक मार्ग की विवेचना है जिसके अन्तर्गत सम्यक्र दृष्टि, सम्यक्र संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि की गणना की जाती है। जिस पर अष्टांग योग के सदाचार (यम नियम) और ध्यान समाधि का स्पष्ट प्रभाव है। इसी प्रकार जैन दर्शन में मुक्ति हेतु पंचमहाव्रतों के पालन पर जोर दिया गया है। ये पंचमहाव्रत अष्टांग योग में यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य) कहलाते है।

जितने भी योग मार्ग हैं सभी में दुखों से मुक्ति (मोक्ष) हेतु सदाचार का पालन पहली शर्त है।

आज के परिवेश में जितनी भी समस्याएं है उनमें से अधिकांश सदाचार की उपेक्षा का ही परिणाम है। चोरी, डकैती, हिंसा, व्यभिचार, आये दिन हो रही बलात्कार की घटनाएं, भ्रष्टाचार आदि समस्याओं के जड़ में सदाचार का अभाव ही है।

21.3 सारांश

पुरुष (आत्मा) का अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थिति ही कैवल्य है जिसे मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, अपवर्ग, निःश्रेयस आदि कई नामों से भारतीय दर्शन में सम्बोधित करते हुए जीवन का परम लक्ष्य बताया गया है। यही परम पुरुषार्थ है। यह दुखों से आत्यन्तिक निवृत्ति की अवस्था है, दुख का कारण अज्ञान है, अज्ञान वश पुरुष प्रकृति (मन, बुद्धि, अंहकार) को अपना स्वरूप समझकर उसके गुणों से प्रभावित हो सुख दुरूख भोगता रहता है तथा बन्धनग्रस्त होकर जन्म–मरण के चक्र में घूमता रहता है। मोक्ष इसी

अविद्या (अज्ञान) से मुक्ति की अवस्था है जिसकी प्राप्ति ज्ञान या विवेक से सम्भव मानी गई है। इस विवेक ज्ञान की प्राप्ति या कैवल्य की प्राप्ति के लिए ज्ञान योग, कर्म योग, भक्ति योग, राजयोग, अष्टांग योग आदि अनेक प्रकार के साधना मार्ग बताये गये हैं जिन पर चलने से चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। मन, चित्त आदि के शुद्ध निर्मल होने पर पुरुष समाधि की अवस्था में आत्म साक्षात्कार प्राप्त कर अपने वास्तविक स्वरूप को जान जाता है। यही कैवल्य है, जो इसी जीवन में सम्भव होने पर जीवन कैवल्य(जीवन्मुक्ति) कहलाता है तथा शरीर छूट जाने पर मृत्यु उपरान्त विदेह कैवल्य कहलाता है, जहाँ से पुनर्जन्म नहीं होता ।

मोक्ष और कैवल्य का एक ही भावार्थ है। इस सूत्रोक्त स्वरूप प्रतिष्ठा का अर्थ यह है कि बुद्धिरूपी अन्तःकरण के सम्बन्ध से रहित होकर जो केवल पुरुष का भाव है वही पुरुष की स्वतन्त्रता और वही पुरुष का निजरूप में अवस्थान कैवल्य कहलाता है। पूर्व सूत्रकथित अवस्थाओं मे प्रवेश करता हुआ योगी शेष में असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् निर्विकल्प समाधि की पूर्णावस्था में पहुँच जाता है, यही अवस्था मोक्ष–अवस्था कहलाती है और यही कैवल्यपद है। पुरुषार्थ शून्य गुणों का जो विलोम है वही कैवल्य है। इस दर्शन शास्त्रोक्त–विज्ञान में पुरुष और प्रकृति की स्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्ता और स्वतन्त्र स्वतन्त्र गति वर्णित है, प्रकृति पुरुष के लिए ही क्रिया किया करती है, जब इस कैवल्य पद के उदय होने पर पुरुष अपने रूप को प्राप्त हो जाता है, तब स्वतः ही प्रकृति पुरुष का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने से प्रकृति अपने आप ही क्रिया हीन होकर लय को प्राप्त हो जाती है। यही अवस्था वेदान्त का अद्वैत भाव है, यही अन्य शास्त्रों की अत्यन्त दुःख निवृत्ति है, यही ज्ञानमार्ग का ब्रह्म सद्भाव है, यही भक्तिमार्ग की पराभक्ति है और यही इस शास्त्र का कैवल्य है। यही कैवल्य अवस्था वेद का सिद्धान्त है और यही कैवल्य अवस्था योगसाधन की चरम सीमा है।

21.4 शब्दावली

योग – प्राचीन साधना पद्धति

अनुशासन – नियमयुक्त आचरण

चित्त – मन, बुद्धि और अहंकार

वृत्ति – चित्त के व्यापार

विवेक ख्याति – प्रकृति पुरुष का विविच्य ज्ञान

चित्त – बुद्धि, अहंकार एवं मन का समाहार रूप

चित्तवृत्ति – चित्त का व्यापार (चित्त द्वारा गृहीत किये गये विषयों का ज्ञान

दर्शन – त्रिविध दुःखों के अत्यन्त नाश हेतु पथ प्रदर्शित कराने

दुःख – इच्छा के विपरीत विषय का अनुभव

दुःखनिवृत्ति – दुःख के हेतुओं का नाश

पुरुषार्थ – धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष

मोक्ष – मृत्युलोक के आवागमन से मुक्ति, परमात्मा का सान्निध्य, परमपद की प्राप्ति, परमानन्द का अनुभव

सुख – अनुकूल अनुभव, इच्छा के अनुसार वस्तु की प्राप्ति

स्वरूप – यथार्थ स्वभाव

द्रष्टा – देखने वाला, पुरुष, आत्मा

अवस्थान – स्थित हो जाना, प्राप्त कर लेना

कैवल्य – पुरुष की परमावस्था, योग का परम लक्ष्य

वैराग्य – विषयों में विरक्ति

21.5 बोध / अभ्यास प्रश्न

१. कैवल्य की प्राप्ति कब होती है? वर्णन करें।

२. विभिन्न दर्शनों में कैवल्य का क्या स्वरूप बताया गया है? स्पष्ट करें।

३. योगसूत्र के अनुसार कैवल्य के स्वरूप की विवेचना करें।

४. कैवल्य प्राप्ति के उपायों को प्रतिपादित करें।

५. कैवल्य के परिणाम को परिभाषित करें।

21.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. पातंजल योगसूत्र, व्याख्याकार श्री नन्दलाल दशोरा, हरिद्वार रणधीर प्रकाशन, १६६७।

२. श्री योगदर्शन, गणपति कृष्ण गुर्जर, श्री लक्ष्मीनारायण प्रेस जतनबड़ बनारस।

३. योगदर्शन, व्याख्याकार, पं. राजाराम प्रोफेसर, लाहौर, साहित्य प्रचारक मण्डल, १६२२ ।

४. पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्याख्याकार, डॉ. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन।

५. पातञ्जलयोगदर्शनम्, व्याख्याकार, श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी विज्ञानाश्रम, अजमेर, दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस १६३२

६. पातञ्जल योगसूत्र (बंगाली बाबा व्याख्या) हिन्दी अनुवादक कुमारी वृजरानी देवी, पूना, एन. आर. भार्गव १६४८

७. योगदर्शन समीक्षा, लेखक– पं. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, वाराणसी, कृष्णदास अकादमी, १६६७

८. योगतत्त्वांक, कल्याण विशेषाङ्क, गीताप्रेस गोरखपुर, वर्ष १६६ ।

६. भारतीय दर्शन, जगदीश चन्द्र मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी,२०२२

१०. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, लेखक प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, १६७४

११. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, चौखम्भा ओरियन्टालिया, १६७६

१२. भारतीय दर्शन, लेखक– वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद लोकभारती प्रकाशन, २००६

१३. भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, लेखक – चन्द्रधर शर्मा, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, २०१०

१४. वेदान्तसार, (बदरीनाथ शुक्ल विरचित हिन्दी व्याख्या एवं रामतीर्थयति विरचित विद्वन्मनोरञ्जनी टीका सहित) सदानन्द. सम्प. बदरीनाथ शुक्ल. वाराणसीरू मोतीलाल बनारसीदास, १६७६.

१५. सांख्यतत्त्वकौमुदी, (गजाननशास्त्री मुसलगांवकर विरचित हिन्दी व्याख्या सहित) वाचस्पति मिश्र. वाराणसी चौखम्भा संस्कृत संस्थान, १६६२.

१६. सर्वसिद्धान्तसंग्रह, शंकराचार्य. सम्प. सूर्यनारायण शुक्ल. वाराणसी काशी विश्वनाथ प्रेस,

१७. सर्वदर्शनसंग्रह, (अभ्यकरवासुदेव शास्त्रि द्वारा दर्शनाकुर व्याख्या सहित) सम्प. वासुदेव शास्त्री अभ्य्कर. प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर, (निर्णयसागर) १६२४.